साहित्य

महावीरप्रसाद द्विवेदी

नंदकिशोर नवल



भारतीय
साहित्य के
निर्माता

बीसवीं शताब्दी के आरंभिक दो दशकों का काल आधुनिक हिंदी साहित्य के इतिहास में 'द्विवेदी युग' के नाम से जाना जाता है। स्पष्टतः यह नामकरण आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के नाम पर हुआ है। १९०३ ई० में वे 'सरस्वती' के संपादक हुए और १९२० ई० तक वे उसका संपादन करते रहे। इन दो दशकों में उन्होंने जो कुछ किया उसी के बल पर इस काल को 'द्विवेदी युग' की संज्ञा दी गई है। लेकिन हिंदी में उनके कृतित्व के मूल्यांकन को लेकर एक विचित्र स्थिति रही है। प्रायः सभी इतिहासकारों, आलोचकों और विद्वानों ने उन्हें मात्र भाषा-संशोधक कहकर चलता कर देने की कोशिश की है। वास्तविकता यह है कि संपादन और लेखन दोनों के ही माध्यम से द्विवेदीजी ने समाज और संस्कृति के क्षेत्र में नये विचारों का प्रकाश फैलाया। यह कार्य उन्होंने इस देश के एक बड़े भू-भाग में किया, जिसमें हिंदी-भाषी जनता बसती है। यह जनता द्विवेदीजी के इस कार्य का बहुत ऊंचा मूल्य आंकती है और उन्हें मात्र भाषा-संशोधक नहीं मानती। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि वह उन्हें युग-निर्माता आचार्य के रूप में स्मरण करती है।

प्रस्तुत पुस्तिका में हिंदी के सुप्रसिद्ध प्रगतिशील आलोचक डॉ० नंदकिशोर नवल ने आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के बहुआयामी व्यक्तित्व और कृतित्व पर सर्वथा नये ढंग से विचार किया है और रेखांकित किया है कि किस तरह द्विवेदीजी आज भी साहित्यालोचन के क्षेत्र में प्रासंगिक बने हुए हैं।

Purchased at Delhi
Feb–March 1987

महावीरप्रसाद द्विवेदी

भारतीय साहित्य के निर्माता

महावीरप्रसाद द्विवेदी

लेखक
नंदकिशोर नवल



साहित्य अकादेमी

Mahavirprasad Dwiwedi : A monograph by Nandkishore Nawla.
Sahitya Akademi, New Delhi, (1981), Price : Rs. 4.

प्रथम संस्करण, १९८१

साहित्य अकादेमी

प्रधान कार्यालय

रवीन्द्र भवन, ३५ फ़ीरोज़शाह रोड, नयी दिल्ली-११०००१

क्षेत्रीय कार्यालय

ब्लाक V-बी, रवीन्द्र सरोवर स्टेडियम, कलकत्ता-७०००२९
१७२, मुंबई मराठी ग्रंथ संग्रहालय मार्ग, दादर, बम्बई-४०००१४
२९, एलडाम्स रोड (दूसरा तल्ला), तेनम्पेठ, मद्रास-६०००१८

मूल्य : चार रुपये

मुद्रक : रूपाभ प्रिंटर्स, दिल्ली-११००३२

बेटा चिंतन और बिटिया पूर्वा को

ज्ञप्ति

मैं साहित्य अकादेमी का आभारी हूं कि उसने मुझे आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के जीवन और कृतित्व पर फिर से विचार करने का अवसर प्रदान किया। प्रस्तुत पुस्तक के दूसरे निबंध में द्विवेदीजी के साहित्येतर विचारों का परिचय देने के लिए हिंदी के विख्यात आलोचक डा० रामविलास शर्मा के शोधपूर्ण आलोचना ग्रंथ "महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण" से विशेष सहायता ली गई है। मैं इसके लिए उनके प्रति अपना हार्दिक आभार प्रकट करता हूं।

यह लघु, लेकिन महत्वपूर्ण, कार्य संपन्न न होता, यदि तरुण कवि श्री अरुण कमल इसके लिए मुझे बार-बार प्रेरित न करते। इस कारण मैं उनका भी आभार मानता हूं।

नंदकिशोर नवल

रानीघाट, पटना-६
४१ फरवरी, १९८१

अनुक्रम

१. जीवन-रेखा

दौलतपुर जिला रायबरेली (उत्तर प्रदेश) में एक गांव है। आम के बगीचों से घिरा हुआ। बगल से गंगा बहती है। उसी गांव में १५ मई, १८६४ को एक साधारण ब्राह्मण-परिवार में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी का जन्म हुआ। गांव चूंकि शहर से दूर था और अवध के नवाबी शासन के परिणामस्वरूप निर्धनता से ग्रस्त था, इसलिए उसमें शिक्षा का प्रवेश नहीं हुआ था। लेकिन गांव के निवासी ब्राह्मण थे, जिनकी जीविका का अनिवार्य संबंध पढ़ाई-लिखाई से था, सो किसी न किसी मात्रा में उसमें उसके प्रति रुचि बनी हुई थी। सत्रहवीं सदी के प्रसिद्ध कवि कविराज सुखदेव मिश्र वहां आकर बस गए थे। उनके वंशजों में पढ़े-लिखे लोग थे। संभवत: उन्हीं के कारण दौलतपुर में हिंदी कविता का प्रचार था और गांव के लोगों के मुंह से कवित्त और सवैये सुनने को मिलते थे।

द्विवेदीजी के दादा पं० हनुमंत द्विवेदी संस्कृत के अच्छे पंडित थे। वे बंगाल की छावनियों में स्थित हिंदुस्तानी पलटनों को पुराण सुनाया करते थे। दुर्भाग्यवश वे असमय में ही चल बसे, जिससे वे अपने पुत्रों की पढ़ाई-लिखाई की व्यवस्था न कर सके। उनके तीन पुत्र थे—रामसहाय, दुर्गाप्रसाद और रामजन। रामजन का तो बाल्यावस्था में ही निधन हो गया था। दुर्गाप्रसाद साक्षर-मात्र थे और सिर्फ कैथी लिख-पढ़ सकते थे। लेकिन उन्हें किस्सागोई आती थी। वे रायबरेली जिले में दानशाह के गौरा के तत्कालीन ताल्लुकेदार भूपालसिंह के यहां किस्से सुनाने के लिए बहाल हो गए थे। द्विवेदीजी की दादी ने उनके दादा के मरने के बाद उनके द्वारा एकत्र की गई सैकड़ों हस्तलिखित पुस्तकें बेच-बेचकर उनके चाचा और पिता का पालन किया। बड़े होने पर दो-चार पुस्तकें द्विवेदीजी को भी घर में पड़ी मिलीं। दादा की तरह ही उनके नाना और मामा भी संस्कृतज्ञ थे। नाना ने तो नहीं, लेकिन मामा ने स्वयं उन्हें अपने संस्कृत-ज्ञान का परिचय दिया था।

द्विवेदीजी के पिता ईस्ट इंडिया कंपनी की एक पलटन में सिपाही थे। वे मामूली हिंदी जानते थे। स्वभाव से धार्मिक होने के कारण सिपाही के काम से

छुट्टी पाते ही वे राम-लक्ष्मण की पूजा में जुट जाते थे। इस कारण उनके साथी सिपाहियों ने उनका नाम रखा था—लछिमनजी। अट्ठारह सौ सत्तावन के गदर में वे जिस पलटन में थे वह बागी हो गई। जो सिपाही पकड़ में नहीं आए, वे तो बच गए। जो पकड़ में आ गए, उन्हें तोप से उड़ा दिया गया। पलटन इस समय पंजाब के होशियारपुर नामक स्थान में थी। द्विवेदीजी के पिता सतलज की धारा में कूद पड़े। एक-दो दिनों के बाद वे सैकड़ों कोस दूर बेहोशी की हालत में कहीं किनारे लगे। जब उन्हें होश आया, संभले और हरी मोटी घास के तने चूस-चूसकर कुछ शक्ति प्राप्त की। फिर साधु के वेश में भिक्षाटन करते हुए कई महीनों के बाद घर आए। घर पर कुछ दिन रहने के बाद इधर-उधर भटकते हुए वे बंबई पहुंचे और वहां वल्लभ-संप्रदाय के एक गोस्वामीजी के यहां नौकर हो गए। चूंकि यहां भी उन्हें ठाकुरजी की सेवा का अवसर प्राप्त था, इसलिए वे अपने पुत्र द्विवेदीजी के समर्थ होने तक उन्हीं के यहां रहे। फिर हमेशा के लिए नौकरी छोड़कर वहां से घर आ गए।

द्विवेदीजी की शिक्षा-प्राप्ति की कहानी बड़ी विचित्र है। शुरू में उन्हें घर पर ही थोड़ी-सी संस्कृत पढ़ाई गई। उन्होंने शीघ्रबोध, अमरकोष और दुर्गा-सप्तशती पढ़ना शुरू किया, लेकिन अभी आधा ही पढ़ा होगा कि उनकी वह पढ़ाई छुड़ा दी गई और उन्हें गांव के एक मदरसे में दाखिल कर दिया गया। वहां उन्होंने थोड़ी-सी उर्दू पढ़ी। उनका नाम 'महावीरसहाय' था। इसी मदरसे के अध्यापक ने भूल से प्रमाण-पत्र में उनका नाम 'महावीरसहाय' की जगह 'महावीरप्रसाद' लिख दिया था। तब से वे 'महावीरसहाय द्विवेदी' की जगह 'महावीरप्रसाद द्विवेदी' हो गए।

अवध में अंग्रेजी राज कायम हो चुका था। सरकार में अंग्रेजी पढ़े-लिखे देशी लोगों की बड़ी मांग थी। इसकी खबर गांवों तक में पहुंच चुकी थी। दौलतपुर के भी कुछ लड़के अंग्रेजी पढ़ने के लिए रायबरेली के जिला स्कूल में भर्ती हुए। द्विवेदीजी को भी गांव का स्कूल छोड़ देना पड़ा। वे भी अंग्रेजी पढ़ने के लिए रायबरेली भेजे गए। यह स्थान दौलतपुर से छब्बीस मील दूर था। उन्हें अपने गांव से वहां तक पैदल जाना पड़ता था, सो भी पीठ पर महीनेभर के लिए आटा-दाल लादकर। उस समय उनकी उम्र सिर्फ तेरह साल थी। स्कूल में दो आना महीना फीस लगती थी। द्विवेदीजी अपना खाना अपने हाथों बनाते थे। चूंकि उन्हें रोटी बनाना नहीं आता था, वे दाल में ही आटे की टिकिया बना कर डाल देते थे और उसी से पेट भरते थे। एक बार वे जाड़े के मौसम में सारी रात पैदल चलकर पांच बजे सवेरे घर पहुंचे थे। दरवाजा बंद था। मां भीतर चक्की चला रही थीं। बालक की आवाज सुनकर वे दौड़ीं। दरवाजा खोला और अपने पुत्र को आंचल में छिपा लिया।

रायबरेली के जिला स्कूल में संस्कृत पढ़ने की व्यवस्था नहीं थी। संस्कृत को वहां अछूत समझा जाता था। इस कारण द्विवेदीजी को अंग्रेजी के साथ फारसी पढ़नी पड़ी। लेकिन इस स्कूल में वे एक साल से अधिक न रह सके। उनके चाचा को उनका इतनी दूर पैदल आना-जाना खटका। उन्होंने उन्हें वहां से हटा लिया और उनका नाम उन्नाव जिले के रनजीतपुरवा के स्कूल में लिखवा दिया। रनजीतपुरवा रायबरेली की तुलना में दौलतपुर के करीब था। लेकिन कुछ दिनों के बाद यह स्कूल ही टूट गया। तब द्विवेदीजी को फतेहपुर के एक स्कूल में भर्ती कराया गया। लेकिन उन्हें यह स्कूल भी छोड़ना पड़ा, क्योंकि यहां उन्हें डबल प्रोमोशन नहीं मिला। अब वे उन्नाव जाकर वहां के स्कूल में पढ़ने लगे, जहां उन्हें डबल प्रोमोशन मिल गया। लेकिन यहां भी वे ज़्यादा दिन न रह सके और परिवार की आर्थिक स्थिति अच्छी न होने के कारण उन्हें स्कूली शिक्षा को हमेशा के लिए नमस्कार कर देना पड़ा। पुरवा, फ़तेहपुर और उन्नाव के स्कूलों में कुल मिलाकर द्विवेदीजी ने चार साल अंग्रेजी पढ़ी, जिससे उन्हें अंग्रेजी का काम-चलाऊ ज्ञान हो गया। इस समय उनकी उम्र अठारह साल थी। उनका विवाह इसके पहले ही हो चुका था।

उन्नाव की पढ़ाई छोड़कर वे सीधे अजमेर चले गए और वहां रेलवे में पंद्रह रुपए मासिक वेतन पर नौकरी कर ली। लेकिन अजमेर में वे एक साल से ज़्यादा नहीं रहे। अब वे अपने पिता के पास बंबई पहुंचे। उनके पिताजी को गोस्वामीजी के यहां से दस रुपए मासिक मिलते थे। उन्होंने उन्हें भी गुसाइयों के यहां नौकरी करने की सलाह दी, लेकिन वे उसके लिए तैयार नहीं हुए। मुंबा देवी के तारघर में उन्होंने तार खटखटाते देखा। इससे उन्हें तारबर्की का काम सीखने की इच्छा हुई। यह काम सीखने को बाद वे जी० आई० पी० रेलवे में पच्चीस रुपए महीने पर तारबाबू की जगह पर नियुक्त हो गए।

रेलवे में नौकरी शुरू करने के बाद द्विवेदीजी ने अपने लिए चार सिद्धांत स्थिर किए—वक्त की पाबंदी रखना, रिश्वत न लेना, अपना काम ईमानदारी से करना और ज्ञान-वृद्धि के लिए सतत प्रयत्नशील रहना। इसका परिणाम यह हुआ कि वे धीरे-धीरे अपने अफसरों की नज़र में उठते गए। तारबाबू होकर भी उन्होंने टिकट बाबू, स्टेशन मास्टर, यहां तक कि रेल की पटरियां बिछाने और उसकी सड़क की निगरानी करनेवाले प्लेटियर तक का काम सीख लिया था। इससे प्राय: बिना दरख्वास्त दिए नौकरी में उनकी तरक्की होती गई। इस सिल-सिले में उन्हें बंबई के अलावा कई स्थानों में रहना पड़ा, जैसे हरदा, खंडवा, होशंगाबाद, इटारसी आदि। जब आई० एम० रेलवे बनी तो उसके जनरल ट्रैफ़िक मैनेजर डब्ल्यू० बी० राइट ने उन्हें टेलिग्राफ इंस्पेक्टर बनाकर झांसी भेज दिया, क्योंकि उसका दफ्तर वहीं खुला था। झांसी में रहते हुए वे हेड टेलि-

ग्राफ इंस्पेक्टर के पद तक पहुंचे। इस पद पर उन्हें बहुत ज्यादा दौरा करना पड़ता था। इस कारण उन्होंने अपना तबादला ट्रैफिक मैनेजर के दफ्तर में करा लिया। कुछ दिनों के बाद वे असिस्टेंट चीफ क्लर्क और फिर रेट्स के प्रधान निरीक्षक नियुक्त हुए।

आगे चलकर आई० एम० रेलवे जी० आई० पी० रेलवे में मिला दी गई। इससे द्विवेदीजी को पुनः बंबई आना पड़ा। लेकिन इस बार बंबई का वातावरण उन्हें पसंद नहीं आया। उन्होंने फिर अपना तबादला झांसी ही करा लिया। झांसी वे काफी दिन रहे थे और वहां रहना उन्हें अच्छा लगता था। वहां वे डिस्ट्रिक्ट सुपरिंटेंडेंट के दफ्तर में पांच साल चीफ क्लर्क के रूप में रहे। इस बार वहां भी उनके दिन ठीक नहीं बीते। कारण यह कि उनकी कद्र करनेवाला अफसर बदल गया और उसकी जगह पर ऐसा अफसर आ गया जो उन्हें एक हिंदुस्तानी क्लर्क से अधिक कुछ नहीं समझता था।

लार्ड कर्जन का दिल्ली दरबार उसी जमाने में हुआ था। द्विवेदीजी का अंग्रेज अफसर अपनी रातें बंगले या क्लब में बिताता था और उन्हें रातभर जगकर उसके नाम आए हुए तार लेने पड़ते थे और उनका जवाब देना पड़ता था। ये तार उन स्पेशल गाड़ियों के संबंध में होते थे, जो दक्षिण से दिल्ली की ओर दौड़ा करती थीं। द्विवेदीजी दिनभर के दफ्तर के काम से थके हुए रहते थे लेकिन नौकरी का बंधन था, उन्हें अपने अफसर का काम करना ही पड़ता था। यह अत्याचार वे महीनों बर्दाश्त करते रहे।

द्विवेदीजी की सहनशीलता से उनके अफसर का मनसूबा बढ़ गया था। उसने अब द्विवेदीजी के माध्यम से रेलवे के और कर्मचारियों पर भी अत्याचार करना चाहा। उसने उन्हें हुक्म दिया कि तुम इतने कर्मचारियों को लेकर रोज सुबह आठ बजे दफ्तर आया करो और ठीक दस बजे मेरी मेज पर मेरे सारे कागज रख दिया करो। द्विवेदीजी ने उसे उत्तर दिया—"मैं आऊंगा, पर औरों को आने के लिए लाचार न करूंगा। उन्हें हुक्म देना हुजूर का काम है।" इस पर बात बढ़ गई और उस अफसर ने गुस्से में उनसे कह दिया कि यदि आपकी ऐसी ही गति रही तो कहीं आपको नौकरी से इस्तीफा न देना पड़े। अंग्रेज अफसर की यह धमकी द्विवेदीजी बर्दाश्त नहीं कर सकते थे। उन्होंने दूसरे ही दिन इस्तीफा दे दिया। बाद में इस्तीफा वापस लेने के लिए उनके यहां अनेक सिफारिशें की गईं। उक्त अंग्रेज अफसर ने भी अपने व्यवहार के लिए पश्चात्ताप किया। लेकिन द्विवेदीजी का निश्चय अडिग था। वे आत्मसम्मान को छोड़कर कहीं नहीं रह सकते थे। आखिर उन्होंने इस्तीफा नहीं ही वापस लिया। उनकी पत्नी मामूली पढ़ी-लिखी थीं। उन्होंने सिर्फ अपनी पत्नी से पूछा—"क्या इस्तीफा वापस लेना चाहिए?" उनकी पत्नी ने उत्तर दिया—"क्या थूककर भी उसे

कोई चाहता है ?" द्विवेदीजी बोले—"नहीं, ऐसा कभी न होगा, तुम धन्य हो।" पत्नी के प्रति द्विवेदीजी का प्रगाढ़ प्रेम और आदरभाव प्रसिद्ध है। निश्चय ही उसका एक कारण यह था कि उनकी पत्नी ने उनके आत्मसम्मान की रक्षा में उनका साथ दिया था। इस समय द्विवेदीजी को रेलवे की नौकरी से कुल दो सौ रुपए प्रतिमाह मिलते थे। ऐसी आयवाली नौकरी को लात मार देना मामूली बात न थी। यह १९०४ ई० का साल था। द्विवेदीजी तब तक 'सरस्वती' का संपादन-भार संभाल चुके थे। उससे उन्हें हर माह तेईस रुपए मिलते थे – बीस रुपए पारिश्रमिक के और तीन रुपए डाक खर्च के। उन्होंने पत्नी से कहा—"अब हम लोगों को गरीबी की जिंदगी बितानी पड़ेगी और 'सरस्वती' से मिलनेवाले रुपयों से ही गुजारा करना पड़ेगा।" पत्नी ने उत्तर दिया—"तुम अगर मेहनत-मजदूरी करके आठ आने भी कमा लाओगे तो मैं उसी में संतोष कर लूंगी।"

संस्कृत, उर्दू, अंग्रेजी और फारसी इन भाषाओं का न्यूनाधिक ज्ञान द्विवेदीजी ने अपने स्कूली जीवन में प्राप्त कर लिया था। अब आवश्यकता इस ज्ञान को बढ़ाने की थी। उन्होने अंग्रेजी और संस्कृत का ज्ञान बढ़ाने पर विशेष ध्यान दिया। अंग्रेजी का ज्ञान उन्होंने सतत अभ्यास से बढ़ाया और संस्कृत वे काफी दिनों तक एक पंडित से पढ़ते रहे। झांसी में उन्होंने पंद्रह रुपए मासिक पर एक पंडित को ठीक कर रखा था, जो उन्हें नियमित रूप से संस्कृत पढ़ाया करते थे। धीरे-धीरे संस्कृत पर उन्हें ऐसा अधिकार हो गया कि वे धारा-प्रवाह संस्कृत बोलने लगे और उसमें काव्य-रचना करने लगे। बंबई में रहते हुए उन्होंने मराठी और गुजराती भाषा भी सीख ली। जब वे झांसी में थे, उनकी संगति कुछ बंगालियों से हुई। उनसे उन्होंने बंगला भाषा सीखी।

हिंदी-प्रेम उन्हें गांव से मिला था। ऊपर कहा जा चुका है कि उनके गांव में कवित्त और सवैये गूंजा करते थे। उन्होंने ऐसे सैकड़ों कवित्त और सवैये कंठस्थ कर लिए थे। वहीं उन्होंने रामचरितमानस और ब्रजवासीदास के ब्रजविलास का जमकर पाठ किया था। नौकरी करते हुए जब वे होशंगाबाद पहुंचे तो उन्हें भारतेंदु हरिश्चंद्र द्वारा संपादित 'कविवचनसुधा' और राधाचरण गोस्वामी द्वारा संपादित 'भारतेंदु' इन पत्रिकाओं के दर्शन हुए। इन्होंने उनके हिंदी-प्रेम को बहुत बढ़ा दिया। वहीं हरिश्चंद्र कुलश्रेष्ठ नाम के एक सज्जन थे, जो कि कचहरी में मुलाजिम थे। द्विवेदीजी ने उनसे पिंगलशास्त्र पढ़ा, जिससे छंदों के संबंध में उनकी जानकारी बढ़ गई। इससे उनके लिए काव्य-रचना का मार्ग प्रशस्त हो गया।

यह १८८५ ई० का साल था। इसी साल भारतेंदु का निधन हुआ था। मराठी आदि आधुनिक भाषाओं की उन्नति देखकर द्विवेदीजी के मन में हिंदी की भी उन्नति की आकांक्षा उत्पन्न हुई। इस आकांक्षा के उत्पन्न होते ही इन्होंने हिंदी

की ओर विशेष ध्यान दिया। उनकी हिंदी-साधना काव्य-रचना से ही आरंभ हुई। उसमें भी उन्होंने अनुवाद के माध्यम से हिंदी की श्रीवृद्धि करने का प्रयास किया। सर्वप्रथम उन्होंने संस्कृत के महिम्नस्तोत्रम् का मुख्यतः गणात्मक छंदों में खड़ी बोली टीका के साथ अनुवाद किया, जो कि १८९१ ई० में प्रकाशित हुआ। तत्पश्चात् उन्होंने भर्तृहरि के वैराग्यशतक तथा शृंगारशतक का क्रमशः 'विनय-विनोद' (१८८९ ई०) और 'स्नेहमाला' (१८९० ई०) के नाम से दोहों में अनुवाद किया। गीतगोविंद का अनुवाद उन्होंने 'विहार-वाटिका' (१८९० ई०) के नाम से मिले-जुले छंदों में किया। इसी तरह उन्होंने पंडितराज जगन्नाथ की गंगालहरी का सवैयों में अनुवाद प्रस्तुत किया (१८९१ ई०) और कालिदास के ऋतुसंहार की छाया लेकर गणात्मक छंदों में 'ऋतुतरंगिणी' (१८९१ ई०) नामक एक ग्रंथ बनाया। यह सारा अनुवाद उन्होंने ब्रजभाषा में किया।

१८९२ ई० में द्विवेदीजी ने गणात्मक छंद में एक मौलिक पुस्तक रची—'देवीस्तुतिशतक'। इसकी भाषा भी ब्रजभाषा ही थी। खड़ी बोली में कालिदास के भावों की व्यंजना का आदर्श उपस्थित करने के लिए उन्होंने 'कुमारसंभवसार' (१९०२ ई०) नाम से कुमारसंभव के प्रथम पांच सर्गों का मात्रिक छंदों में अनुवाद किया। इसके अलावा उन्होंने १८९५ से १९०२ ई० तक संस्कृत, ब्रजभाषा और खड़ी बोली में अनेक स्फुट कविताएं लिखीं, जिनका विषय था—शिवस्तुति, प्रकृति वर्णन, देश-दशा का वर्णन, सामाजिक कुप्रथाओं की आलोचना, संपादकों की आलोचना, हिंदी का महत्त्व-प्रतिपादन, आदि। उनकी ये कविताएं जिन पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुईं, वे थीं 'संस्कृतचंद्रिका', 'हिंदोस्थान', 'हिंदी-वंगवासी', 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका', 'भारतमित्र', श्रीवेंकटेश्वर-समाचार', 'हिंदीप्रदीप', 'राजस्थानसमाचार', 'भारतजीवन', 'सुदर्शन', 'सरस्वती', 'छत्तीसगढ़मित्र', 'अवधसमाचार' आदि। १९०३ ई० में 'काव्य-मंजूषा' नाम से उनका संकलन प्रकाशित हुआ, जिसमें उनकी संस्कृत, ब्रजभाषा तथा खड़ी बोली में लिखित ये सारी स्फुट कविताएं संकलित हुईं।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि द्विवेदीजी की साहित्य-साधना का आरंभ काव्यरचना से ही हुआ; लेकिन यह कार्य पूरी तरह से उनकी प्रतिभा के अनुरूप नहीं था। इस कारण काव्य-रचना की ओर से वे धीरे-धीरे विमुख होते गए। उन्होंने विनम्रतापूर्वक स्वयं लिखा है: "झांसी आने पर जब मैंने पंडितों की कृपा से प्रकृत कवियों के काव्यों का अनुशीलन किया, तब मुझे अपनी भूल मालूम हुई और छंदोबद्ध प्रलापों के जाल से मैंने सदा के लिए छुट्टी ले ली। पर पद्य कुछ न कुछ लिखना जारी रखा।" १९४० ई० में द्विवेदीजी की समस्त अनूदित और मौलिक काव्य-कृतियों का संकलन 'द्विवेदी-काव्यमाला' के नाम से प्रकाशित हुआ। उनकी परवर्ती कविताएं, जो समय-समय पर 'सरस्वती' में छपी थीं, प्रायः

खड़ी बोली में रची गई हैं।

काव्य-रचना के बाद द्विवेदीजी ने गद्य-लेखन की ओर ध्यान दिया। उन दिनों हिंदी लेखकों में लाला सीताराम बी०ए० की बड़ी चर्चा थी। उन्होंने कालिदास के काव्यों का हिंदी में छंदोबद्ध अनुवाद किया था। द्विवेदीजी को उनका अनुवाद ठीक नहीं लगा। उन्होंने १८९६ ई० में लालाजी के कुमारसंभव भाषा' की आलोचना 'काशी पत्रिका' में छपवाई। अभी उसका कुछ ही अंश निकला था कि पत्रिका बंद हो गई। वह आलोचना हिंदी-प्रेमियों को पसंद आई थी, इसलिए उन्होंने उसे फिर से 'हिंदोस्थान' में छपवाया। उसके बाद १८९७ ई० में द्विवेदीजी ने लालाजी के 'ऋतुसंहार भाषा' की आलोचना 'श्री वेंकटेश्वर समाचार' में की। इन दोनों आलोचनाओं के प्रकाशित होने से वे हिंदी-क्षेत्र में सुज्ञात हो गए। लोगों ने उन्हें उनके लिए बधाई दी। इससे उत्साहित होकर द्विवेदीजी ने लालाजी के मेघदूत और रघुवंश की भी आलोचना लिख डाली और चारों आलोचनाओं को १९०१ ई० में 'हिंदी कालिदास की समालोचना' के नाम से पुस्तकाकार प्रकाशित कराया। लालाजी पर इस आलोचना की ऐसी प्रतिक्रिया हुई कि वे द्विवेदीजी पर मानहानि का दावा करने के लिए दौड़-धूप करने लगे। लेकिन जब उन्होंने देखा कि अभियोग सिद्ध करने में कठिनाई होगी, तो वह विचार छोड़ दिया।

'हिंदी कालिदास की समालोचना' के अलावा गद्य में द्विवेदीजी ने कुछ और पुस्तकें लिखीं। उनमें से कुछ पुस्तकें अनुवाद थीं और कुछ मौलिक। 'बेकन-विचार-रत्नावली' (१८९९ ई०) के नाम से उन्होंने लार्ड बेकन के छत्तीस निबंधों का हिंदी में अनुवाद किया। पंडितराज जगन्नाथ का काव्य 'भामिनी-विलास' भी उन्हें प्रिय था। उन्होंने उसे भी हिंदी में प्रस्तुत किया। १९०० ई० में उनकी आलोचना की दूसरी पुस्तक निकली—'नैषधचरित-चर्चा'। इस पुस्तक में उन्होंने कुछ नये ढंग पर नैषधकार श्रीहर्ष के चरित की विवेचना की थी और उनके काव्य के गुण-दोष दिखलाए थे। साहित्य-जगत् में इस पुस्तक की भी प्रतिक्रिया हुई। उन्हीं दिनों काशी से 'सुदर्शन' नाम का एक पत्र निकला था। उसके संपादक थे पं० माधव प्रसाद मिश्र। उन्होंने अपने पत्र में 'नैषधचरित-चर्चा' के निष्कर्षों से तीव्र असहमति प्रकट करते हुए द्विवेदीजी पर व्यक्तिगत आक्षेप किए। द्विवेदीजी ने उस आलोचना का उत्तर १९०० ई० की 'सरस्वती के दो अंकों में अपेक्षित विस्तार के साथ दिया। इस उत्तर में उन्होंने जिस विद्वत्ता और विवेचन-क्षमता का परिचय दिया उससे हिंदी में उनकी धाक जम गई।

उस समय भारतेंदु-युग के अधिकांश बड़े लेखक जीवित थे और सृजनरत थे। उदाहरण के लिए उपाध्याय पं० बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', पं० प्रतापनारायण मिश्र, पं० बालकृष्ण भट्ट, पं० श्रीधर पाठक आदि के नाम लिए जा

सकते हैं। इन लेखकों का ध्यान जितना साहित्य-सृजन की ओर था, उतना खड़ी बोली गद्य के परिष्कार की ओर नहीं। द्विवेदीजी चूंकि प्रगतिशील विचारों के लेखक थे, इसलिए उन्होंने समझ लिया था कि आगे आनेवाले दिनों में हिंदी क्षेत्र में खड़ी बोली ही व्यवहार और साहित्य-सृजन का एकमात्र माध्यम होगी। कहा जा चुका है कि मराठी आदि आधुनिक भारतीय भाषाओं की उन्नति देखकर उनके मन में हिंदी की उन्नति की आकांक्षा उत्पन्न हुई। उन्होंने खड़ी बोली का स्वरूप स्थिर करने की ओर विशेष ध्यान दिया और इस काम में जी-जान से लग गए। उनकी दृष्टि स्कूलों में पढ़ाई जानेवाली पुस्तकों की ओर गई। उनकी भाषा में गड़बड़ी उन्हें बर्दाश्त नहीं होती थी।

द्विवेदीजी जब झांसी में थे तब वहां के तहसीली स्कूल के एक अध्यापक ने उन्हें हिंदी की एक पाठ्य-पुस्तक दिखलाई। उसका नाम था 'तृतीय रीडर'। उसमें भाषा की तरह-तरह की भूलें थीं। उक्त अध्यापक द्विवेदीजी की आलोचनात्मक प्रतिभा से परिचित थे। उन्होंने उनसे आग्रह किया कि वे उस रीडर की भी आलोचना लिखकर प्रकाशित करा दें। द्विवेदीजी ने उसकी आलोचना लिखी और उसे पुस्तकाकार प्रकाशित कराया। उन्होंने उसमें शिक्षा-विभाग का ध्यान रीडर की भूलों की ओर दिलाया और कहा कि ऐसी पुस्तक पढ़ाने से छात्रों का हित नहीं, बल्कि अहित होगा। द्विवेदीजी की पुस्तक प्रकाशित होते ही चारों ओर चर्चा होने लगी। रीडर के जो लेखक थे उनकी बोलती बंद थी। संयोग ऐसा कि वह रीडर इंडियन प्रेस (प्रयाग) का प्रकाशन थी। प्रेस के स्वामी थे बाबू चिंतामणि घोष। वे अपने प्रकाशन की आलोचना के लिए द्विवेदीजी से रुष्ट होने के बदले प्रसन्न हुए। उन्होंने उनकी विद्वत्ता का लोहा मान लिया और अपने प्रबंधक बाबू गिरिजाकुमार घोष को झांसी भेजकर उनसे अनुरोध किया कि वे इंडियन प्रेस के लिए नयी रीडरें लिख दें। द्विवेदीजी ने 'शिक्षा-सोपान' नाम से रीडरें लिखीं भी, परंतु दुर्भाग्यवश शिक्षा-विभाग ने उन्हें मंजूर नहीं किया।

बीसवीं शताब्दी के आरंभ-काल से ही, इंडियन प्रेस से 'सरस्वती' नाम की मासिक पत्रिका निकल रही थी। उसके संपादक ये पांच विद्वान् बनाए गए थे —बाबू कार्तिकप्रसाद खत्री, पं० किशोरीलाल गोस्वामी, बाबू जगन्नाथदास बी०ए०, राधाकृष्ण दास और बाबू श्यामसुंदर दास। दो सालों तक इन विद्वानों के संपादन में 'सरस्वती' नियमपूर्वक निकलती रही, पर उसका वैसा प्रचार नहीं हुआ, जैसा होना चाहिए था। बाद में उसके चार संपादक अलग हो गए, जिससे उसका सारा भार बाबू श्यामसुंदर दास पर आ पड़ा। उन्होंने पत्र के स्वामी घोष बाबू को सूचित किया कि अब वे अधिक समय तक 'सरस्वती' का संपादन नहीं कर सकेंगे। सुयोग्य संपादक की तलाश शुरू हुई। घोष बाबू द्विवेदीजी से पहले ही प्रभावित हो चुके थे। उनकी दृष्टि उन पर जाकर टिक गई। बाबू श्यामसुंदर

दास ने भी उनके नाम का समर्थन किया। घोष बाबू ने जब द्विवेदीजी के सामने 'सरस्वती' के संपादन से संबंधित प्रस्ताव रखा, तो उन्होंने सहर्ष स्वीकार कर लिया। ऐसा उन्होंने स्पष्टतः आर्थिक लोभवश नहीं किया था। उन्हें हिंदीभाषी क्षेत्र में अपने नये विचारों को फैलाने के लिए एक उपयुक्त माध्यम की आवश्यकता थी। वे खड़ी बोली का परिष्कार भी करना चाहते थे। 'सरस्वती' का संपादन मिल जाने से उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ कि अब वे अपनी योजना के अनुसार काम कर सकेंगे। 'सरस्वती' पर जो उनका अनुराग बढ़ता गया और अंत में उन्होंने उसे जो अपना जीवन समर्पित कर दिया, उसका यही कारण है। १६०४ ई० में जब उन्होंने नौकरी से इस्तीफा दिया तो उनके अनेक मित्रों ने उन्हें अनेक प्रकार से सहायता देने की इच्छा प्रकट की, लेकिन उन्होंने किसी की सहायता स्वीकार नहीं की और "और सब तज हरि भज" को आदर्श बनाकर 'सरस्वती' की सेवा में लग गए।

१६०३ और १६०४ ई० की 'सरस्वती' का संपादन द्विवेदीजी ने झांसी से ही किया। उसका संपादन संभालते ही उनके सामने एक विकट कठिनाई आ उपस्थित हुई। उनकी तीखी आलोचनाओं से हिंदी के अनेक लेखक उनसे अप्रसन्न थे। उनके संपादक होते ही उन्होंने 'सरस्वती' से अपना संबंध तोड़ लिया और उसमें लिखना बंद कर दिया। कुछ लेखक उनसे इसलिए भी अप्रसन्न थे कि वे उनकी रचनाओं में इतना भारी भाव और भाषा-संबंधी संशोधन किया करते थे कि उनकी शकल ही बदल जाती थी। उनमें से भी अनेक ने 'सरस्वती' से असहयोग शुरू किया। लेकिन द्विवेदीजी मामूली व्यक्ति नहीं थे। इस असहयोग से वे जरा भी विचलित नहीं हुए और उन्होंने 'सरस्वती' की भट्टी में अपने को ही झोंकने का निश्चय कर लिया। एक साल तक उसमें अनेक नामों से वे प्रायः अपने ही लेख देते रहे। ये लेख नाना विषयों से संबंधित थे। इससे हिंदी-प्रेमियों ने उसका हृदय से स्वागत किया और वह देखते-देखते प्रसिद्ध हो गई। दूसरे साल से 'सरस्वती' की पृष्ठ-संख्या बढ़ा दी गई और उसमें सुंदर चित्र देने की भी व्यवस्था की गई। अब द्विवेदीजी को तरुण लेखकों का एक दल भी मिल गया। 'सरस्वती' में इन लेखकों की रचनाएं छपने लगीं। उसके स्तर को उन्नत करने के लिए द्विवेदीजी ने पाश्चात्य देशों की पत्र-पत्रिकाओं का संग्रह और उनका अध्ययन आरंभ किया। नए अनुभव और ज्ञान से उन्होंने वस्तुतः 'सरस्वती' का स्तर इतना उठा दिया कि वह हिंदी की साहित्यिक पत्रकारिता का प्रतिमान बन गई। देश की अन्य भाषाओं में भी उसके मुकाबले की पत्रिका एक-दो से अधिक नहीं थी। उनके संपादन के पहले साल में भी 'सरस्वती' एकदम नियमित रही थी, जिससे असहयोग करनेवाले लेखकों को भारी आश्चर्य हुआ था। तरुण लेखकों का सहयोग प्राप्त कर वह नियमित होने के साथ-साथ

अत्यधिक आकर्षक भी बन गई।

१९०५ ई० में द्विवेदीजी ने झांसी छोड़ दी और कानपुर के निकट स्थित जुहीकलां नामक एक गांव में रहकर वहीं से 'सरस्वती' का संपादन करने लगे। अब जुही कानपुर शहर का एक मुहल्ला है। जुही में उनके मित्र बाबू सीताराम रहते थे। उनका अपना मकान और व्यवसाय था। आर्मी प्रेस नामक एक प्रेस और लकड़ी का कारखाना था। वे खुद ही अपने व्यवसाय की देखभाल करते थे और काम में बहुत ही मुस्तैद थे। वे द्विवेदीजी की साहित्य-सेवा का मूल्य समझते थे। उन्होंने संकट-काल में उनका साथ दिया। उन्हें आग्रहपूर्वक बुलाकर सपरिवार न केवल अपने मकान में रखा, बल्कि उन्हें ढाई हजार रुपए भी दिए और उनसे कहा—"इनसे आप अपना काम चलावें और हिंदी की सेवा करें।" द्विवेदीजी ने कुछ पैसे अपने पास भी बचा रखे थे। इन सबसे जुही में वे जीवन-यापन और साहित्य-सेवा करते रहे। अपने मित्र का उन्हें बहुत भरोसा था। उन्होंने जुही से एकबार पं० गिरिधर शर्मा 'नवरत्न' को लिखा था—"ऊपर भी हमारे सीताराम हैं और नीचे भी सीताराम।" उनके रुपए उन्होंने कई सालों में धीरे-धीरे चुकाए।

द्विवेदीजी जब झांसी में थे, तभी उदीयमान कवि श्री मैथिलीशरण गुप्त अपने चाचा के साथ उनसे मिले थे। द्विवेदीजी ने उस समय रेलवे की नौकरी से इस्तीफा नहीं दिया था। वे एक छोटे-से मकान में रहते थे, जिसके दरवाजे पर बांस की सींकों की बनी लिपटी हुई चिक बंधी रहती थी। उसके एक ओर उनके नाम की पट्टी लगी थी और दूसरी ओर पट्टी पर यह अंकित था—"सबेरे भेंट न होगी"। गुप्तजी तिपहर को उनसे मिलने पहुंचे थे। ओसारे में रखी बेंच पर कुछ देर इंतजार करने के बाद द्विवेदीजी दफ्तर से लौटे। उनका स्वरूप बाबुओं से नहीं, बल्कि अफसरों से मिलता था। लेकिन उसमें जो रोब था, वह अधिकार से नहीं, बल्कि व्यक्तिगत प्रताप से आया था। जाड़े के दिन थे। उन्होंने हल्के कत्थई रंग का नीचा ऊनी कोट और सफेद फ्लानेल का पतलून-जैसा पाजामा पहन रखा था। सिर पर टोपी। बाएं हाथ में कुछ कागज-पत्तर और दाएं में छड़ी। चूंकि उनका दफ्तर उनके मकान से दूर नहीं था, इसलिए वे पैदल चलकर ही आ रहे थे। नजदीक आने पर गुप्तजी ने देखा, ऊंचा ललाट, घनी और मोटी भौंहें, उनकी छाया में विशेष चमकती हुई आंखें, जो कि बड़ी न होने पर भी तेज से भरी हुई दिखाई देती थीं। पूरी आकृति गौरवशाली और प्रकृति गंभीर तथा चिंतनशील। द्विवेदीजी के बुलाने पर जब गुप्तजी अपने चाचा के साथ भीतर गए, तब उन्होंने देखा कि कमरे में सारी चीजें करीने से सजी हुई हैं। एक सुंदर और हृष्ट-पुष्ट बिल्ली आई और उछलकर द्विवेदीजी की गोद में बैठ गई। वे उसकी पीठ पर धीरे-धीरे हाथ फेरते रहे और वह हर्ष और गर्व से एक असाधारण शब्द

करती रही।

द्विवेदीजी अत्यंत व्यवस्थाप्रिय और नियमानुगामी व्यक्ति थे। गुप्तजी ने उनसे कहा—"हम लोग तो सवेरे ही आनेवाले थे, परंतु सुना कि संध्या को ही आपसे भेंट होती है, इसलिए इस समय सेवा में उपस्थित हुए हैं।" द्विवेदीजी हंसकर बोले—"हां, सवेरे हम 'सरस्वती' का काम करते हैं और कुछ लेख आदि लिखते हैं। फिर अवकाश नहीं पाते। परंतु जब आप इतनी दूर से आए हैं तब क्या हम उस समय भी आपसे न मिलते। कभी झांसी आया कीजिए और सुविधा हो तो मिला कीजिए।" चट्टान के समान कठोर द्विवेदीजी के भीतर स्नेह की ऐसी मीठी निर्झरिणी बहती है, गुप्तजी ने इसकी कल्पना नहीं की थी।

काशी की नागरी प्रचारिणी सभा से द्विवेदीजी का अच्छा संबंध था। उसके द्वारा छेड़े गए नागरी के आंदोलन में उन्होंने सक्रिय रूप से भाग लिया था और उसके आग्रह पर १९०० ई० में वे उसके सदस्य भी हो गए थे। वे 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका' के लेखकों में से थे और सभा ने उनकी पुस्तकें भी प्रकाशित की थीं। बाबू श्यामसुंदर दास और सभा के अन्य पदाधिकारियों से भी उनका काफी मेल-जोल था। लेकिन १९०४ ई० की 'सरस्वती' के अक्तूबर के अंक में जब उन्होंने सभा की १९०१ ई० की हिंदी पुस्तकों की खोज-रिपोर्ट की आलोचना की, तो सभा के सभी पदाधिकारी उनसे नाराज हो गए। 'सरस्वती' सभा के 'अनुमोदन' से प्रकाशित होती थी और यह बात उसके प्रत्येक अंक के आवरण पृष्ठ पर छपती थी। द्विवेदीजी की आलोचना की प्रतिक्रिया यह हुई कि सभा की प्रबंधकारिणी समिति की ओर से 'सरस्वती' के स्वामी बाबू चिंतामणि घोष के यहां एक पत्र के माध्यम से उसकी शिकायत की गई। द्विवेदीजी ने अगले अंक में उचित उत्तर के साथ उस पत्र को छाप दिया। सभा के पदाधिकारी उससे संतुष्ट नहीं हुए और उन्होंने घोषबाबू को दूसरा पत्र लिखा, जिसमें उनसे आग्रह किया गया कि या तो 'सरस्वती' में सभा के विरुद्ध कभी कुछ न लिखा जाए, या फिर उसके आवरण-पृष्ठ पर सभा के अनुमोदन की बात न छापी जाए। घोष बाबू संपादकीय कार्यों में हस्तक्षेप करने को तैयार नहीं हुए और उन्होंने छपा हुआ आवरण-पृष्ठ नष्ट कराकर नये आवरण पृष्ठ के साथ जनवरी, १९०५ का अंक निकाला, जिसमें एक सप्ताह की देर हो गई। फरवरी, १९०५ के अंक में द्विवेदीजी की टिप्पणी निकली—'अनुमोदन का अंत', जिसकी मार्मिकता से सभी हिंदी-प्रेमी प्रभावित हुए। द्विवेदीजी ने अपनी टिप्पणी के अंत में अनीस कवि का यह कवित्त उद्धृत किया था :

ए हो विटपवर पुहुप तिहारे हम,
राखिहो हमैं तो शोभा राउरे बढ़ावैंगे।
तजि हौ कदाचित तो विलग न मानैं कछू,

जहाँ-जहाँ जैहैं, तहाँ दूनो यश छावैंगे ।।
सुरन चढ़ैंगे, नरसिरन चढ़ैंगे,
सुकवि अनीस हाट-बाटन बिकावैंगे ।
देस में रहैंगे, परदेस में रहैंगे,
काहू भेस में रहैंगे, तऊ रावरे कहावैंगे ।।

इन पंक्तियों से यह स्पष्ट है कि सभा से द्विवेदीजी का आत्मिक संबंध था और वे 'सरस्वती' संबंधी अपने कार्य को सभा के हिंदी-संबंधी व्यापक कार्य का ही एक अंग मानते थे। उन्होंने सभा की खोज-रिपोर्ट की जो आलोचना की थी, वह हिंदी के हित को ही दृष्टि में रखकर, न कि सभा पर 'सरस्वती' की श्रेष्ठता स्थापित करने के लिए।

सभा के साथ द्विवेदीजी का जो संघर्ष चला, उसकी परिणति किस रूप में हुई, यह श्री केदारनाथ पाठक के साथ घटी घटना से मालूम होता है। पाठक जी हस्तलिखित पुस्तकों के खोज-कार्य से संबंधित थे। द्विवेदीजी की आलोचना से वे काफी कुपित हुए और जूही पहुंचकर उनसे प्रश्न किया—"सभा के कार्यों की इतनी कड़ी आलोचना का हमें किस रूप में प्रतिवाद करना होगा ? क्या 'विषस्य विषमौषधम्' की नीति का अवलंबन करना पड़ेगा ?" द्विवेदीजी ने मुस्कुराते हुए भद्रजनोचित शब्दों में उनसे कहा—"देवता ! ठहर जाओ, मैं अभी आता हूं।" इतना कहकर वे अंदर गए और एक हाथ में एक गिलास, जिस पर एक सुंदर तश्तरी में मिठाइयां रखी थीं, तथा दूसरे हाथ में एक लोटा पानी लिए हुए बाहर आए। ये तीनों चीजें तो उन्होंने पाठकजी के सामने रखीं ही, साथ ही उसी कमरे के एक कोने से एक मोटी लाठी लाकर भी उनके सामने रख दी। फिर वे मुस्कुराते हुए बोले—"सुदूर प्रवास से थके-माँदे आ रहे हो, पहले हाथ-मुंह धोकर जलपान करके सबल हो जाओ, तब यह लाठी और यह मेरा मस्तक है।" उनका यह व्यवहार देखकर पाठकजी पानी-पानी हो गए। उनकी आंखों से आंसुओं की धारा जारी हो गई, जिसने उनकी क्रोधाग्नि को पूरी तरह शांत कर दिया।

उपर्युक्त घटना के बाद से द्विवेदीजी और पाठकजी के बीच जो सौहार्द स्थापित हुआ, तो वह जीवन के अंतिम क्षणों तक बना रहा। अब द्विवेदीजी जब कभी काशी आते, पाठकजी को सूचना देकर आते और पं० रामनारायण मिश्र से उन्हें तब तक के लिए सभा से मांग लेते, जब तक कि काशी में रहते। सभा से उनका मतभेद था, इसलिए वे सभा में नहीं जाते थे और कभी-कभी सभा से सटे कंपनी बाग में जाकर वहां बेंच पर बैठ जाते थे। वहीं से किसी आने-जानेवाले से वे पाठकजी को सभा से बुलवा लेते। बाबू श्यामसुंदर दास के साथ उनका जो विवाद आरंभ हुआ था, वह तब जाकर समाप्त हुआ, जबकि १५ जून, १९०७ के 'भारतमित्र' में बाबू श्यामसुंदर दास ने उनसे क्षमायाचना की।

लेखकों के असहयोग के बावजूद जब 'सरस्वती' चल निकली, तब द्विवेदीजी ने उसमें भाषा और व्याकरण का प्रश्न उठाया। १९०५ ई० के नवंबर के अंक में उन्होंने 'भाषा और व्याकरण' शीर्षक एक लेख लिखा। उसमें प्रसंगवश उन्होंने बाबू बालमुकुन्द गुप्त के बंगला भाषा के अनुवाद का एक अंश उद्धृत कर उसमें व्याकरण-संबंधी भूलें दिखलाईं और लिखा कि हिंदी के प्रतिष्ठित लेखकों द्वारा अपने लेखन में व्याकरण के नियमों की अवहेलना करने से भाषा में 'अनस्थिरता' आ गई है, जो कि हिंदी की उन्नति में बाधक हो रही है। इस महत्त्वपूर्ण लेख ने हिंदी के तत्कालीन लेखकों में भाषा के प्रति सजगता उत्पन्न की, जिससे उसका उन्होंने स्वागत किया। लेकिन हिंदी के कुछ प्रतिष्ठित लेखक उसके प्रकाशित होते ही क्रोध से तिलमिला उठे। बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने 'भारतमित्र' में 'भाषा की अनस्थिरता' शीर्षक से 'आत्माराम' के नाम से एक लेखमाला लिखी, जिसमें उन्होंने तथ्यों पर पर्दा डालकर द्विवेदीजी पर बहुत भद्दे ढंग से आक्षेप किए। इस लेखमाला का उत्तर पं० गोविन्द नारायण मिश्र ने 'हिंदी-बंगवासी' में 'आत्माराम की टें-टें' शीर्षक से एक लेख लिखकर दिया। यह लेख बहुत ही कटु शब्दों में लिखा गया था। चूंकि शैली गंभीर और विद्वत्तापूर्ण थी, इसलिए हिंदी के तत्कालीन प्रतिष्ठित लेखक उससे प्रभावित हुए और प्रायः सबके सब द्विवेदीजी के पक्ष में हो गए। द्विवेदीजी ने गुप्तजी की बातों का उत्तर 'सरस्वती' में एक दूसरा लेख लिखकर दिया, पर उन पर उसका भी असर नहीं हुआ। उन्होंने द्विवेदीजी की बोली बैसवाड़ी में 'हम पंचन के ट्वाला माँ' जैसे वाक्य लिखकर उन पर कटाक्ष किया था। इससे द्विवेदीजी क्षुब्ध हो उठे और उन्होंने कल्लू अल्हइत के नाम से बैसवाड़ी में ही 'सरगौं नरक ठेकाना नाहिं' शीर्षक आल्हा लिखकर उन्हें उत्तर दिया।

द्विवेदीजी और गुप्तजी के इस विवाद का अंत भी बहुत ही मधुर ढंग से हुआ। गुप्तजी द्विवेदीजी का लोहा मान चुके थे। उनके मन में बहुत दिनों से उनके दर्शनों की लालसा थी, पर उन्हें उनके पास जाने का साहस नहीं हो रहा था। अपने जीवन के अंतिम दिनों में वे कानपुर के प्रसिद्ध उर्दू मासिक 'जमाना' के संपादक मुंशी दयानारायण निगम को लेकर जुही द्विवेदीजी के यहां पहुंचे। निगम साहब ने जैसे ही उन्हें द्विवेदीजी का परिचय दिया कि वे उनके पांवों पर गिर पड़े और उन पर अपना माथा टेक दिया। द्विवेदीजी उन्हें पहचानते न थे, इसलिए आश्चर्य में पड़ गए। उन्होंने उन्हें उठाकर हृदय से लगा लिया। अब निगम साहब ने उन्हें गुप्तजी का परिचय दिया। गुप्तजी ने शब्दों के द्वारा भी उनसे क्षमा-याचना की। फिर तो दोनों में जो सौहार्द स्थापित हुआ, वह अंत-अंत तक बना रहा।

१९०३ से लेकर १९०९ ई० तक द्विवेदीजी ने बड़े ही श्रम और निष्ठा के

साथ 'सरस्वती' का संपादन किया। इस काल में उन्होंने भाषा-संबंधी महत्त्व-पूर्ण प्रश्न उठाए और खड़ी बोली में काव्य-रचना को भरपूर प्रोत्साहन दिया। इसके अलावा उन्होंने नाना विषयों से संबंधित लेख देकर उसे वैज्ञानिक चेतना के प्रसार का माध्यम बना दिया। इन कारणों से 'सरस्वती' हिंदी-प्रेमियों का कंठ-हार हो गई। यह गुरु कार्य करते हुए द्विवेदीजी ने छोटी-बड़ी कई पुस्तकें लिखीं और कई पुस्तकों का अंग्रेजी तथा संस्कृत से अनुवाद किया। उनकी मौलिक पुस्तकों में 'नाट्यशास्त्र' (१९०३ ई०), 'विक्रमांकदेवचरितचर्चा' (१९०७ ई०), 'हिंदी भाषा की उत्पत्ति' (१९०७ ई०) और 'संपत्तिशास्त्र' (१९०७ ई०) मुख्य हैं और अनूदित पुस्तकों में 'शिक्षा' (हर्बर्ट स्पेंसर के 'ऐजुकेशन' का अनुवाद, १९०६ ई०) और 'स्वाधीनता' (जॉन स्टुअर्ट मिल के 'ऑन लिबर्टी' का अनुवाद, १९०७ ई०)। संपादन और लेखन के दोहरे बोझ का द्विवेदीजी के स्वास्थ्य पर बहुत ही बुरा असर पड़ा और वे सदा के लिए अस्वस्थ हो गए। उन पर उन्निद्र रोग का आक्रमण हुआ। डॉक्टरों ने उन्हें काम करने से मना किया। लाचार होकर उन्हें विश्राम हेतु सालभर की छुट्टी लेनी पड़ी। उनकी अनुपस्थिति में १९१० ई० की 'सरस्वती' उनके मित्र पं० देवीप्रसाद शुक्ल बी०ए० के संपादकत्व में निकली।

एक साल विश्राम करने से द्विवेदीजी का स्वास्थ्य कुछ संभल गया। १९११ ई० में उन्होंने पुनः 'सरस्वती' का संपादन-कार्य अपने हाथ में ले लिया। इसी साल उन्होंने उसमें 'कालिदास की निरंकुशता' शीर्षक अपनी लेखमाला छापी। बाबू बालमुकुन्द गुप्त के शिष्य पं० जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी पर उसकी प्रतिकूल प्रक्रिया हुई। उन्होंने 'भारतमित्र' में उसका विरोध 'मनसाराम' के नाम से 'निरंकुशता-निदर्शन' शीर्षक एक लेखमाला लिखकर किया। उसमें उन्होंने जी-भर कर द्विवेदीजी का उपहास किया था, ठीक वैसे ही जैसे पहले उनके गुरु गुप्तजी ने किया था। चतुर्वेदीजी की लेखमाला के प्रतिवाद स्वरूप द्विवेदीजी ने 'सरस्वती' में अपनी लेखमाला के समर्थन में अनेक नामी विद्वानों के विचार छापे। इसी समय 'इंदु' में पं० शिवचंद्र शास्त्री नामक एक विद्वान् ने एक महत्त्व-पूर्ण लेखमाला लिखी, जिसमें अत्यंत विदग्धता से द्विवेदीजी के पक्ष का समर्थन किया गया था।

१९१३ ई० की 'सरस्वती' के दो अंकों में द्विवेदीजी ने मिश्रबंधुओं की आलोचना पुस्तक 'हिंदी-नवरत्न' की अत्यंत कठोर समीक्षा लिखी। जैसा कि प्रत्याशित था, मिश्रबंधुओं और उनके मित्रों ने इसके लिए भी उन्हें आड़े हाथों लिया और उन्हें अपशब्द कहे। द्विवेदीजी ने इसका कोई उत्तर नहीं दिया।

'सरस्वती' में साहित्य और भाषा-संबंधी जो विवाद चले, उनसे उसकी लोकप्रियता में काफी वृद्धि हुई। द्विवेदीजी ने उसे और भी आकर्षक बनाने का

प्रयास किया। वे उसमें नई से नई और उपयोगी सामग्री देने लगे और उसकी पृष्ठ-संख्या बढ़ा दी। अब वह और सुंदर चित्रों से अलंकृत होकर बेहतर कागज पर छपकर निकलने लगी। साहित्य-जगत् में उसका रुतबा यह था कि उसमें जिस किसी की रचना छपती, वह हिंदी का लेखक या कवि मान लिया जाता।

द्विवेदीजी की पत्नी को मिर्गी का रोग था। इस कारण वे उन्हें कभी अकेले गंगास्नान के लिए नहीं जाने देते थे। एक बार ऐसा हुआ कि वे गांव की अन्य स्त्रियों के साथ गंगा नहाने गई। पानी के भीतर ही उन्हें मिर्गी का दौरा आ गया, जिससे वे बाहर न निकल सकीं। गंगा का प्रवाह उन्हें बहा ले गया। लगभग एक कोस दूर उनका शव मिला। द्विवेदीजी को अपनी पत्नी से बहुत लगाव था। इस दुर्घटना ने उनपर क्या असर डाला, इसका पता उस पत्र से चलता है, जो उन्होंने दौलतपुर से १३ जुलाई, १९१२ को पं० पद्मसिंह शर्मा को लिखा था। उसमें उन्होंने लिखा था : "क्या लिखूं? यहां भी बुरा हाल है। पत्नी मेरी इस संसार से कूच कर गई। मैं चाहता हूं कि मेरी भी जल्दी बारी आवे।" पत्नी के शाश्वत वियोग की व्यथा और 'सरस्वती' के संपादन के कठिन श्रम ने उन्हें तोड़कर रख दिया। संपादन-कार्य के अलावा इस काल में उन्होंने संस्कृत के चार काव्यों का गद्य में अनुवाद भी किया था। ये काव्य थे—मेघदूत, कुमारसंभव, रघुवंश और किरातार्जुनीय। इस सबका परिणाम बहुत ही घातक हुआ। द्विवेदीजी ने अपनी पिछली बीमारी से कुछ भी शिक्षा नहीं ली थी। अब उनका स्वास्थ्य ऐसा गिरा कि उन्हें १९१८ ई० में 'सरस्वती' से दो सालों की छुट्टी लेनी पड़ी। इस बार भी उन्होंने संपादन का भार अपने मित्र पं० देवीप्रसाद शुक्ल बी०ए० को ही सौंपा।

जैसा कि कहा जा चुका है, द्विवेदीजी को उन्निद्र रोग था। अब उन्हें दूसरा स्नायविक रोग भी हो गया। अब जरा-सा भी मानसिक आघात लगता तो वे मूर्च्छित हो जाते। यह सब देखकर वे सदा के लिए 'सरस्वती' के संपादन-कार्य से मुक्त हो जाने की बात सोचने लगे। उसके स्थायी संपादक के पद पर वे शुक्ल को ही नियुक्त कराना चाहते थे, लेकिन शुक्लजी उसके लिए आवश्यक समय न निकाल सके। प्रथम विश्वयुद्ध के कारण अन्य पत्र-पत्रिकाओं की तरह 'सरस्वती' के भी ग्राहक कम होने लगे। कागज वगैरह की किल्लत हो जाने से वह पहले जैसी सज-धज के साथ भी नहीं निकल पा रही थी। उसका यह हाल देखकर उसके स्वामी घोषबाबू बहुत चिंतित हुए और उन्होंने द्विवेदीजी से आग्रह किया कि वे एकबार पुनः उसे अपने हाथ में लें और उसकी समुचित व्यवस्था करके अवकाश प्राप्त कर लें।

१९२० ई० में द्विवेदीजी ने पुनः 'सरस्वती' का कार्य-भार ग्रहण किया। नये संपादक की खोज शुरू हुई। 'सरस्वती' में संयुक्त संपादक की आवश्यकता

का विज्ञापन निकला। उसके लिए जो प्रार्थना-पत्र आए, उनमें एक प्रार्थना-पत्र श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी का भी था। उन्हीं को उक्त पद के लिए उपयुक्त पाया गया। कुछ महीनों तक उन्होंने द्विवेदीजी के साथ संयुक्त संपादक के रूप में काम किया। तत्पश्चात् उन्होंने 'सरस्वती' का संपादन-भार पूरी तरह से उठा लिया और द्विवेदीजी उससे अलग हो गए। यह सब कुछ द्विवेदीजी की इच्छा और संस्तुति से ही हुआ। घोषबाबू ने उन्हें पचास रुपए प्रति मास अवकाश-वृत्ति देने की व्यवस्था कर दी। यह १९२१ ई० का साल था।

द्विवेदीजी अत्यंत कर्त्तव्यनिष्ठ व्यक्ति थे। रेलवे की नौकरी शुरू करने पर उन्होंने अपने लिए कुछ सिद्धांत स्थिर किए थे। 'सरस्वती' के संपादन का कार्यभार ग्रहण करने पर उन्होंने ये संकल्प किए—"वक्त की पाबंदी रखूंगा, मालिकों का विश्वासपात्र बनने की चेष्टा करूंगा, अपने हानि-लाभ की परवाह न करके सदा पाठकों के हानि-लाभ को महत्त्व दूंगा और न्यायपथ से कभी विचलित नहीं होऊंगा" कहने की आवश्यकता नहीं कि द्विवेदीजी ने जान पर खेलकर भी इन संकल्पों के अनुसार आचरण किया। जब तक वे संपादक रहे, हर माह 'सरस्वती' की सामग्री निर्धारित समय पर प्रेस में पहुंचती रही। वांछित सामग्री के अभाव में उन्हें पूरा का पूरा अंक खुद लिखना पड़ा, पर उन्होंने सामग्री देने में कभी विलंब नहीं किया। उन्होंने तो यहां तक किया कि हमेशा अगले छः अंकों की सामग्री अपने पास रखी। उनका कहना था कि मैं महीने दो महीने बीमार हो गया, तो उसका असर 'सरस्वती' पर नहीं पड़ना चाहिए। यदि उसका प्रकाशन तब तक के लिए बंद रखा जाए, तो वह उसके ग्राहकों के साथ अन्याय होगा। वस्तुतः सोलह-सत्रह सालों के लंबे समय में एक बार भी ऐसा नहीं हुआ कि उनके कारण पत्रिका का प्रकाशन रुका हो। मालिकों के विश्वासपात्र द्विवेदीजी इस हदतक बन गए कि वे उन्हें अपना कुटुंबी समझने लगे। उनके कारण इंडियन प्रेस को कभी किसी मुसीबत में नहीं फसना पड़ा, जबकि जमाना आज़ादी की लड़ाई का था और वे उस लड़ाई का एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण मोर्चा, जो कि सांस्कृतिक मोर्चा था, संभाले हुए थे। उन्हें इंडियन प्रेस से अपनी विश्वसनीयता का प्रतिदान भी मिला। उनकी आर्थिक स्थिति धीरे-धीरे सुधरती हुई वैसी हो गई, जैसी कि रेलवे की नौकरी छोड़ने के समय थी। घोष बाबू ने कभी उनके संपादन-कार्य में हस्तक्षेप नहीं किया और उनकी इस हद तक कदर करते रहे कि चपरासी खाली हाथ चलता था और वे द्विवेदीजी का सामान लिए उन्हें स्टेशन छोड़ने जाते थे।

द्विवेदीजी ने वस्तुतः अपने हानि-लाभ की परवाह न करके पाठकों के हित को सर्वदा ऊपर रखा। 'सरस्वती' उन दिनों भारत की दो-तीन सर्वश्रेष्ठ पत्रिकाओं में से थी। उसमें अपनी लिखी हुई किसी चीज का छपना या अपने जीवन-चरित्र का प्रकाशित होना बड़ी बात समझी जाती थी। इसके लिए द्विवेदीजी को तरह-

तरह के प्रलोभन दिए जाते थे। उन्होंने न केवल उनका कोई खयाल नहीं किया, बल्कि बड़ी सख्ती से वे पाठकों के हितों की रक्षा करते रहे। एक बार एक सज्जन ने देशी शक्कर की कुछ थैलियां उन्हें भेंट कीं। वे चाहते थे कि वे उनके संबंध में 'सरस्वती' में कुछ लिख दें। कुछ दिनों के बाद उक्त सज्जन द्विवेदीजी से मिले और उन्हें उन थैलियों को याद दिलाई, तो अपनी आलमारी की ओर हाथ उठाकर इशारा करते हुए उन्होंने उनसे कहा—"तुम्हारी थैलियां जैसी की तैसी रखी हुई हैं। 'सरस्वती' इस तरह किसी के व्यापार का साधन नहीं बन सकती।" 'सरस्वती' में भाषा-संबंधी अपनी नीति का भी वे बहुत ही कठोरता से पालन करते थे। हिंदी के बड़े से बड़े लेखकों की भाषा की भूलें तो उन्होंने दिखलाई ही, उनकी रचनाओं में कलम भी लगाई। उन दिनों बी०ए०, एम०ए० और पी-एच०डी० आज की तरह सहज सुलभ नहीं थे। इन उपाधियों से लैस किसी लेखक की कोई रचना किसी पत्रिका में पहुंचती थी, तो वह पत्रिका अपने को गौरवान्वित अनुभव करती। एक बार एक पी-एच० डी० महोदय ने द्विवेदीजी को अपना एक लेख भेजा और उन्हें लिखा कि "इसके संशोधन में आप कृपा करके कोई उर्दू शब्द न डालें।" द्विवेदीजी ने लौटती डाक से वह लेख इस टिप्पणी के साथ लौटा दिया कि "संपादन के संबंध में मैं किसी की कोई शर्त स्वीकार नहीं कर सकता।" यहां यह ज्ञातव्य है कि द्विवेदीजी के भाषा-संशोधन के पीछे स्थित मुख्य उद्देश्य था रचना को पाठकों के लिए बोधगम्य बनाना। इस तरह पाठक ही उनकी कसौटी थे। उनके लिए उन्होंने नज़दीक और दूर के तथा साहित्य-जगत् और उससे बाहर के अनेक दुश्मन बनाए। ताज्जुब नहीं कि आत्मरक्षा के लिए उनके कमरे में हमेशा एक फरसा झूलता रहता था। द्विवेदीजी ने न्यायमार्ग का अवालंबन किस हद तक किया, यह तो इसी से प्रमाणित है कि अनेकानेक प्रतिष्ठित लेखकों द्वारा 'सरस्वती' का बहिष्कार किए जाने के बावजूद वे अपनी नीति से कभी नहीं डिगे।

द्विवेदीजी सारा काम नियमों में बंधकर करते थे। इसमें वे कभी भी व्यतिक्रम नहीं आने देते थे। उनके यहां कभी-कभी अतिथि आ जाता था, तो अपनी कार्य-तालिका उसे साफ-साफ बता देते थे। एक बार जुही में पं० केशव प्रसाद मिश्र उनसे मिलने गए। द्विवेदीजी ने उनका पूरा सत्कार किया। सवेरे जब वे सोकर उठे तो देखते क्या हैं कि वे उनके लिए पानी का लोटा लिए हुए खड़े हैं। इस बात से मिश्र जी बहुत लज्जित हुए, पर द्विवेदीजी बोले—"वाह! तुम तो मेरे अतिथि हो!" लेकिन जब दस बजे, तब उन्होंने उन्हें कुछ पुस्तकें दीं और कहा—"अब पांच बजे तक मुझसे बातचीत न हो सकेगी। इस बीच तुम इन्हें पढ़ो और आर्मी प्रेस के मैनेजर भगवानदास जी से बातचीत करो।" फिर वे 'सरस्वती' के संपादन-कार्य में जुट गए। इस तरह द्विवेदीजी बहुत ही कठोरता से अपने

बनाए हुए नियमों का पालन करते थे। लेकिन ऐसा भी नहीं था कि वे इस मामले में पूरी तरह से हृदयहीन थे। श्री हरिभाऊ उपाध्याय तीन साल तक 'सरस्वती' में द्विवेदीजी के सहायक रहे थे। वे उनके काम करने का ढंग देखकर शुरू में रात-दिन एक करके उन्हें काम पूरा करके दे देते थे। दस-बारह दिनों के बाद द्विवेदीजी ने उनसे कहा—"उपाध्यायजी, आप इतनी जल्दी काम पूरा करके क्यों दे देते हैं ! जो बहुत जरूरी होगा, उसके लिए मैं स्वयं कह दिया करूंगा। बाकी काम फुरसत से और आराम से किया कीजिए। दिन-रात मेहनत करने की जरूरत नहीं है।"

नये लेखकों के साथ द्विवेदीजी का व्यवहार जितना ही कठोर होता था, उतना ही कोमल भी। पं० विश्वंभरनाथ शर्मा 'कौशिक' की कहानी 'सरस्वती' से लौट आई थी। इस बार उन्होंने उन्हें साहित्येतर विषय पर लिखा हुआ एक लेख भेजा और यह जानने के लिए कि वह द्विवेदीजी को पसंद आया या नहीं, एक दिन स्वयं उनके पास जुही पहुच गए। द्विवेदीजी कमरे के बाहर अकेले एक नंगी खाट पर बैठे थे। शरीर पर एक बंडी, घुटनों तक धोती और पैर में खड़ाऊं। कौशिकजी को विश्वास ही नहीं हुआ कि देहाती वेश-भूषा वाला यह व्यक्ति ही 'सरस्वती' का संपादक है। लेकिन जब उनकी दृष्टि उनसे मिली तो उन्हें ऐसा लगा कि किसी ने सिर पर हाथ रखकर उन्हें नीचे दबा दिया। विशाल उन्नत ललाट की दमक, लंबे बालों की घनी भौंहें, अंतस्तल को छेदनेवाली आंखें, बड़ी-बड़ी मूंछें और गंभीर मुद्रा। इन सबका उन पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि उनकी आंखों के सामने से बंडी और ऊंची धोती गायब हो गई और केवल द्विवेदीजी का रोबीला मुखमंडल सामने रह गया। डरते-डरते कौशिकजी ने उनसे निवेदन किया—"मैंने आपकी सेवा में एक लेख…।" द्विवेदीजी ने उनसे लेख का शीर्षक पूछा। उनके बतलाने पर उनकी गंभीरता मृदुता में बदल गई और वे किंचित् मुस्कुराते हुए बोले—"हां, वह लेख ! वह तो आपकी ही तरह सुंदर है। मैं उसे छापूंगा।" कौशिकजी को द्विवेदीजी के इन शब्दों में अपूर्व मिठास मालूम पड़ी। अपने जीवन में उन्हें वैसे मीठे शब्द दो-चार बार से ज़्यादा सुनने को नहीं मिले। इसी मुलाकात में द्विवेदीजी ने उन्हें अपने कुछ कायदे-कानून से भी परिचित करा दिया, जिन्हें लेकर वे बहुत ही कड़े थे। नये लेखकों को वे मौलिक लेखन के लिए तो प्रेरित करते ही थे, उन्हें कुछ-न-कुछ अनुवाद का काम भी देते थे। उनका उद्देश्य दूसरी भाषा की उत्तम रचनाओं को अपनी भाषा में लाकर उसको समृद्ध करना था। उन्होंने कौशिकजी को रवींद्रनाथ की कहानियों का एक संग्रह दिया और उनसे कहा कि इसमें जो कहानी आपको सर्वोत्तम प्रतीत हो, 'सरस्वती' के लिए उसका अनुवाद कर डालिए। लेकिन साथ ही उन्होंने यह भी हिदायत कर दी कि न तो पुस्तक में कहीं कलम या पेंसिल का निशान लगाइएगा, न स्याही के धब्बे पड़ने दीजिएगा, न पृष्ठ

मोड़िएगा। जब वे चलने लगे तो उन्हें जैसे यह गुरु-मंत्र दिया—"केवल उपन्यास और गल्पें ही नहीं, अन्य विषयों की पुस्तकें भी पढ़ा कीजिए।"

पुराने लेखकों के साथ द्विवेदीजी का व्यवहार जैसा था, वैसा नये लेखकों के साथ नहीं। नये लेखकों को वे बहुत अधिक प्रोत्साहन दिया करते थे। उन्हें पत्र लिखते समय वे उसमें एक वाक्य ऐसा जरूर डाल देते थे, जिसे पढ़कर उनका हृदय गद्‌गद् हो जाता था और उनमें अपने प्रति आत्मविश्वास उत्पन्न हो जाता था। जब किसी नये लेखकों को कुछ लिखना आ जाता था, तब वे उसका नाम 'सरस्वती' की फ्री लिस्ट में लिखवा देते थे और उसे सूचित कर देते थे कि "'सरस्वती' अब आपकी सेवा में बराबर पहुंचा करेगी।" एकाध साल के बाद जब वे यह देखते थे कि अब नया लेखक पारिश्रमिक का हकदार है, तब बिना प्रार्थना के उसके लेखों के लिए पारिश्रमिक भिजवाने लगते थे। द्विवेदीजी का यह व्यवहार एक-दो नहीं, सैकड़ों लेखकों के साथ था। इस तरह उन्होंने हिंदी में नये लेखकों की हरी-भरी फसल खड़ी की।

द्विवेदीजी जितने ही अनुशासनप्रिय थे, उतने ही कार्यप्रिय। एकबार की बात है। पं० कामता प्रसाद गुरु उनसे मिलने गए। बातचीत शुरू हुई। द्विवेदीजी कुछ कह ही रहे थे कि गुरुजी बीच में बोल पड़े। द्विवेदीजी ने रुक्षता से उनसे कहा—"आपके साथ बातचीत करना कठिन है!" गुरुजी लज्जित होकर रह गए। यह थी उनकी अनुशासनप्रियता, जिसका वे छोटी-से-छोटी बातों में पालन करते थे। उनकी कार्यप्रियता का सबूत यह है कि वे बातचीत में कभी समय नहीं गंवाया करते थे। कोई भी उनसे मिलने जाता तो स्वागत में वे उसे अपने पनडब्बे से पान के दो बीड़े भेंट करते थे। जब उससे बातें कर लेते थे, तो वे पुनः उसकी ओर पान के दो बीड़े बढ़ाते थे। यह इस बात का संकेत होता था कि काम खत्म हुआ, अब आप मुझे मुक्त करें।

द्विवेदीजी अनुशासनप्रिय और कार्यप्रिय ही नहीं, बल्कि विनोदप्रिय भी थे। एकबार उन्होंने कई लोगों की उपस्थिति में पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' से बैसवाड़ी में एक सवाल किया—"काहे हो बालकृष्ण, ई तुम्हार सजनी, सखी, सलौनी, प्राण को आयँ? तुम्हार कविता मां इनका बड़ा जिकर रहत है।" और लोग हंस पड़े और नवीनजी की सिट्टी-पिट्टी गुम हो गई। एक दूसरी घटना यह है कि एक संपादक महोदय ने द्विवेदीजी से एकबार एक कविता मांगी, लेकिन उन्होंने शर्त यह लगाई थी कि कविता न धार्मिक होनी चाहिए, न सामाजिक और न आर्थिक। पत्र से द्विवेदीजी का काफी मनोरंजन हुआ। वे बोले—"इस तरह तो प्रायः सभी विषय निकल गए, फिर कविता काहे पर की जाए? क्या गधे पर?" मजे की बात यह कि सचमुच उन्होंने 'गदर्भ-काव्य' की रचना की, जो कि २६ अगस्त, १८६८ के 'हिंदी-बंगवासी' में प्रकाशित हुई।

द्विवेदीजी के जीवन का सर्वाधिक मार्मिक प्रसंग पत्नी के प्रति उनका अनुराग है। पत्नी की मृत्यु के बाद लोगों ने दूसरा विवाह करने के लिए उनपर बहुत दबाव डाला। उनके कोई संतान न थी और वे आर्थिक दृष्टि से समर्थ भी थे। उनकी अवस्था भी उस समय कोई ज़्यादा न थी। वैसी स्थिति में उनका दूसरा विवाह करने का निश्चय कर लेना बहुत कुछ स्वाभाविक था, लेकिन उन्होंने न केवल वैसा नहीं किया, बल्कि अपनी पत्नी के प्रति अपूर्व प्रेम का परिचय दिया। दौलतपुर में उनके दरवाजे पर हनुमान की एक पुरानी मूर्ति पड़ी थी। द्विवेदीजी की पत्नी ने एक चबूतरा बनवाकर उस पर उस मूर्ति को स्थापित करा दिया। जब मूर्ति स्थापित हो गई तो एक दिन उन्होंने हंसी में द्विवेदीजी से कहा—"तुम्हारा चबूतरा तो हमने बनवा दिया!" हनुमान को 'महावीर' भी कहते हैं। द्विवेदीजी के नाम में भी यह शब्द था। उनकी पत्नी ने श्लेष से उनके साथ हंसी की थी। उन्होंने तत्काल उन्हें उत्तर दिया—"तुमने हमारा चबूतरा बनवाया है, मैं तुम्हारा मंदिर बनवाऊंगा।" उन्होंने इस बात को याद रखा और पत्नी की मृत्यु के बाद उसे कर दिखलाया। उन्होंने अपने मकान के सामने एक मंडप बनवाया और उसमें सरस्वती और लक्ष्मी की मूर्तियों के मध्य में अपनी पत्नी की मूर्ति स्थापित करवाई। ग्रामीण जीवन में पत्नी-प्रेम का यह प्रदर्शन अभूतपूर्व बात थी। गांव के लोगों ने उनका बहुत मजाक उड़ाया। जगह-जगह लोग कहते सुने गए—"दुवौना कलजुगी है, कलजुगी। द्याखो ना, मेहेरिया कै मूरति बनवाय के पधराईसि हइ! यहौ कौनिउ वेद-पुरान कै मरजाद आय?" लेकिन द्विवेदीजी पर इन बातों का कोई असर नहीं हुआ।

भावुक भी द्विवेदीजी हद से ज़्यादा थे। १९१६-१७ ई० की बात है। पं० हरिभाऊ उपाध्याय के छोटे भाई मार्त्तण्ड, जो कि उस समय सात-आठ साल के थे, डबल ब्रेंको न्यूमोनिया से अभी-अभी मुक्त हुए थे। उन्हें खाने को मिल रहा था, लेकिन अन्न नहीं। द्विवेदीजी ने अपनी देख-रेख में उनकी चिकित्सा कराई थी। एक दिन जब वे उन्हें देखने गए तो यह पाया कि वे दाल के लिए मचल रहे थे। द्विवेदीजी ने बड़े प्यार से समझाकर उनके मन को दाल की तरफ से फेरा। लेकिन उस दिन जब वे खाना खाने बैठे तो उनसे दाल नहीं खाई गई। उन्होंने कहा—"मार्त्तण्ड को दाल नहीं मिली। मुझसे आज दाल कैसे खाई जाएगी?" उनकी इसी भावुकता का यह परिणाम था कि वे बाद में मूच्छित हो जाते थे। यह प्रसिद्ध है कि तुलसीदास-जैसे कवियों की कविता पढ़ते समय उनकी आंखों से आंसुओं की धारा जारी हो जाती थी। एक बार चरखारी के राजा जुझार सिंह के यहां महफिल लगी थी। द्विवेदीजी ने गायिका से सूरदास का 'मो सम कौन कुटिल खल कामी' पद गाने का अनुरोध किया, पर जब वह गाने लगी तो वे मूर्च्छित होकर गिर पड़े। ग्रामीण स्त्रियों के करुण रस में पगे हुए गीत सुनकर भी उनकी यही दशा होती थी।

'सरस्वती' से अवकाश ग्रहण करने के कुछ दिन बाद द्विवेदीजी अपने गांव दौलतपुर चले गए और स्थायी रूप से वहीं रहने लगे। लेकिन इससे उनका लिखना-पढ़ना नहीं बंद हुआ। जैसा कि कहा जा चुका है, 'सरस्वती' से उन्हें प्रतिमास डेढ़ सौ रुपए मिलते थे। अवकाश ग्रहण करने पर उनकी आय एक तिहाई रह गई। खर्च कम नहीं हुआ था। बाकी रुपयों के लिए उन्हें पत्र-पत्रिकाओं में लेख लिखने पड़े। 'सरस्वती' के लिए वे हर माह दो लेख लिखते थे, जिनके लिए उन्हें तीस-पैंतीस रुपए मिलते रहे। 'सरस्वती' के अलावा 'आज', 'माधुरी' आदि में भी वे लिखते थे। जब उनका स्वास्थ्य बहुत बिगड़ गया, तो दूसरे पत्रों में तो उन्होंने लिखना बंद कर दिया, पर 'सरस्वती' में वे १९२८ ई० तक लिखते रहे। इस काल में उन्होंने अच्छी संख्या में लेख लिखे। उनके जो करीब पच्चीस-तीस लेख संग्रह उपलब्ध हैं, उनमें संकलित अनेक लेख इसी काल के लिखे हुए हैं। द्विवेदीजी का एक प्रसिद्ध लेख है—'आजकल के हिंदी कवि और कविता' यह लेख उन्होंने मई, १९२७ की 'सरस्वती' में 'सुकवि-किंकर' के छद्म नाम से लिखा था। इसमें छायावादी कविता की त्रुटियों की ओर बहुत विदग्धता के साथ संकेत किया गया है।

द्विवेदीजी साहित्य की दुनिया से दूर गांव में चले गए थे, तथापि उनका साहित्य-विवेक मंद नहीं हुआ था। उसकी तीक्ष्णता पूरी तरह से बरकरार थी। इसका पता हमें एक छोटी-सी घटना से चलता है। पं० बनारसीदास चतुर्वेदी ने 'विशाल भारत' में 'साकेत' की आलोचना की थी। उसके रचयिता श्री मैथिलीशरण गुप्त को उसकी कुछ बातें पसंद नहीं आईं और उन्होंने १५ जनवरी, १९३२ को उन्हें उत्तर दिया। उस उत्तर की प्रतिलिपि उन्होंने द्विवेदीजी को भेजी और उनसे सम्मति की याचना की। द्विवेदीजी ने गुप्त जी को लिखा—"तुलसी की कविता से आपको अपनी कविता की तुलना करना शोभा नहीं देता।" इससे गुप्तजी विचलित हो उठे और उन्होंने उनसे निवेदन किया—"आज पच्चीस वर्ष से ऊपर हुए, मैं आपकी छत्र-छाया में हूं। यह बात औरों के कहने के लिए रहने दीजिए।...मैंने अपनी ध्यान-समाधि में जैसा देखा वैसा लिखा।" द्विवेदीजी ने तुरंत उनके इस पत्र का यह उत्तर दिया—"आपने मुझसे राय मांगी, मुझे जो कुछ उचित समझ पड़ा, लिखकर मैंने आपकी इच्छापूर्त्ति कर दी। इस पर आप अपनी २८ जनवरी की चिट्ठी में विवाद पर उतर आए—जो राय मैंने दी उसका सर्वांश में खंडन कर डाला। इसकी क्या जरूरत थी? आप अपनी राय पर जमे रहते। ध्यान-समाधि लगाकर पुस्तक लिखने वालों को मेरे और बनारसीदास जैसे मनुष्यों की परवा ही क्यों करनी चाहिए? वे अपनी राह जायँ, आप अपनी। आपकी राय ठीक, मेरी और बनारसीदास की गलत सही—तुष्यतु भवान्।" यह सुविदित तथ्य है कि गुप्तजी के कवि रूप के निर्माण में द्विवेदीजी का अत्यधिक हाथ था। वे

उनके अनन्य स्नेह-पात्र भी थे। लेकिन जब साहित्य-विवेक की बात आई, तो उन्होंने उपर्युक्त बातों का जरा-भी खयाल नहीं किया और निर्ममतापूर्वक अपनी सम्मति प्रकट कर दी।

द्विवेदीजी का साहित्य-विवेक सदा प्रज्वलित रहा, उसका एक कारण यह है कि उनकी ज्ञान-पिपासा कभी शांत नहीं हुई और उन्होंने स्वाध्याय कभी नहीं छोड़ा। उन्होंने स्कूल और कालेज में जाकर नहीं, बल्कि स्वतंत्र रूप से कठिन श्रम के द्वारा घर पर ही आठ भाषाओं तथा साहित्य एवं साहित्येतर विषयों का विस्तृत ज्ञान प्राप्त किया था। अपनी वृद्धावस्था में भी वे अपने जवार के एक साहित्य-शास्त्रज्ञ के पास रोज तीन मील पैदल चलकर कुवलयानंद पढ़ने जाया करते थे। कोई भी ऐसी बात उनके सामने आ जाती थी, जिसे वे न जानते थे, तो वे उसे जानकर ही दम लेते थे। उनके भानजे श्री कमलाकिशोर त्रिपाठी को एकबार उन्माद का रोग हो गया था। उधर उनकी चिकित्सा शुरू हुई, इधर द्विवेदीजी ने उन्माद के संबंध में जानकारी प्राप्त करने के लिए चरक-सुश्रुत आदि ग्रंथ छान डाले। कमला बाबू की बड़ी बहन की शादी होने को थी, तो उन्होंने कर्मकांड के ग्रंथों का अध्ययन आवश्यक समझा।

द्विवेदीजी साहित्य-सेवी तो थे ही, वे जनसेवी भी थे। जनसेवा की उनकी प्रवृत्ति उनके जीवन-काल के प्रारंभ से ही उनमें वर्तमान थी। जब वे रेलवे में नौकरी करते थे, तब उन्होंने अनेकानेक बेरोजगार व्यक्तियों को ले जाकर रेलवे में नौकरी दिलाई थी। 'सरस्वती'-काल में भी उनकी यह प्रवृत्ति बनी रही। उन्होंने गांव में गरीबों के साथ किए जानेवाले अन्याय को रोकने के लिए पंचायतें स्थापित करने का कानून बनवाने का प्रयत्न किया। इसमें उन्हें सफलता नहीं मिली, लेकिन सरकार ने ग्राम-मुंसिफों की अदालत कायम करने की आज्ञा दे दी। द्विवेदीजी ने इसी से संतोष किया और दौलतपुर में मुंसिफी कायम करवाई और खुद ही ऑनरेरी मुंसिफ भी बने। यह १९१८ ई० की बात है, जब वे 'सरस्वती' से छुट्टी लेकर अपना स्वास्थ्य सुधार कर रहे थे। ग्राम मुंसिफ बनकर उन्होंने गांव के लोगों को जो सुविधाएं प्रदान कीं, उनसे वे उन्हें अपना त्राता मानने लगे।

बाद में ग्राम-पंचायत का वह कानून बन गया, जिसके लिए द्विवेदीजी सालों से प्रयत्नशील थे। अब उन्होंने दौलतपुर में उस कानून के मुताबिक ग्राम-पंचायत की स्थापना करवाई और खुद उसके सरपंच बने। सरपंच के रूप में उनकी सेवा की सराहना सरकार और ग्रामीण जनता दोनों ने की। पंचायत का काम वे बड़ी लगन के साथ अपने जीवन के अंतिम दिनों तक करते रहे। उनके फैसलों की बड़ी कद्र थी। ग्राम-मुंसिफी और पंचायत का काम ठीक से करने के लिए उन्होंने कानून की ढेर-सारी आवश्यक पुस्तकों का अध्ययन किया। इसका परिणाम यह हुआ कि अपील होने पर उनके फैसले कभी रद्द नहीं किए गए। वे फैसलों के मामले में

बहुत ही निष्पक्ष और कठोर थे। गांव में ऐसा करना आसान काम नहीं था। स्वभावत: जैसे उन्होंने साहित्य में अपने अनेक दुश्मन बना लिए थे, ग्राम-जीवन में भी अनेक दुश्मन बना लिए। इन्हीं कारणों से अब आत्मरक्षा के लिए वे अपने पास फरसा ही नहीं, बल्कि बंदूक भी रखते थे। अनेक बार ऐसा हुआ था कि उन्होंने ऐसे व्यक्तियों को जुर्माना किया, जो अत्यंत निर्धन थे। द्विवेदीजी ने अपने पास से उन्हें जुर्माने के रुपए दिए, लेकिन उन्हें माफ नहीं किया। वे कभी भी इस पक्ष में नहीं थे कि मुकदमेबाजी हो। उनकी कोशिश यही रहती थी कि समझाने-बुझाने से लोग मान जाएं और मुकदमे के चक्कर में नहीं पड़ें। बड़े-बड़े लोग मुकदमों के संबंध में उनसे सलाह लेने के लिए आते थे। वे यथासंभव उन्हें समझाकर आपस में ही फैसला करा देते थे।

गांव में रहते हुए द्विवेदीजी ने गांव के विकास और ग्रामीणों की सुविधा के लिए अनेक काम किए और कराए। उन्होंने दौलतपुर में डाकघर, प्राइमरी स्कूल, कांजी हौस, औषधालय आदि खुलवाए। और तो और, उन्होंने गांव के सामने गंगा पार करने के लिए नाव का घाट भी बनवाया। गांव के लोगों की वे तरह-तरह से आर्थिक सहायता भी किया करते थे। वे उन्हें कम सूद पर और कभी-कभी बिना सूद के भी रुपए देते थे। अनेक बार ऐसा होता था कि गरीबों की सहायता उन्हें यों करनी पड़ती थी। यह सब वे अपनी अवकाश-वृत्ति की छोटी-सी रकम से ही करते थे।

द्विवेदीजी मूलत: किसान थे। पहले वे पान खाने के बेहद शौकीन थे और चाय भी वे बहुत ज़्यादा और नियमपूर्वक पिया करते थे, लेकिन अंतिम दिनों में उनसे ये दोनों ही चीज़ें छूट गई थीं और वे केवल तंबाकू पर गुजर करने लगे थे। आम उन्हें बहुत पसंद था, जिसका एक कारण यह भी था कि उससे उनका कब्ज़ दूर होता था और उनका उन्निद्र रोग भी काफी कम हो जाता था। अपने बगीचे में आम के पेड़ उन्होंने खुद लगाए थे। पं० बनारसी दास चतुर्वेदी को वे पेड़ दिखलाते हुए उन्होंने कहा था—"देखो, हमारे लगाए वृक्ष कैसे फलों से लदे हैं। हमें तो अब इन्हीं के देखने में आनंद आता है।" अंतिम दिनों में वे खुद खेती भी करने लगे थे। वे खेती-संबंधी आय-व्यय का ब्योरा भी लिखते थे। किस खेत में कितनी लागत लगी है, क्या आय हुई है, यह सब वे ब्योरे के साथ लिखकर रखते थे। उनके हिसाब में यह तक लिखा हुआ है कि अरहर के सूखे हुए पौधों के कितने गट्ठर काम आए, कितने दूसरों को दिए गए और कितने सड़ गए। अपने भानजे के विवाह के समय उनका उन्निद्र रोग बढ़ गया था, इसलिए उन्होंने बारात के प्रबंध का भार एक अन्य व्यक्ति को सौंप दिया था। वे द्विवेदीजी के हिसाब-किताब से परिचित थे, इसलिए उन्होंने भी विवाह के खर्च का ब्योरेवार हिसाब लिखना शुरू किया। बारात के इलाहाबाद पहुंचते-पहुंचते उनके हिसाब में गड़बड़ी हो गई और पांच

रुपयों का हिसाब गुम हो गया। उन्होंने द्विवेदीजी को अपनी परेशानी बतलाई। उन्होंने हंसकर उनसे कहा—"तुम हिसाब लिखते ही क्यों हो?" विवाह के बाद उक्त व्यक्ति ने जब उन्हें बाकी बचे हुए रुपए लौटाए, तो वे बोले—"मेरे जीवन में एक यही खर्च है, जिसका ब्योरेवार लेखा मैं नहीं रख रहा हूं।"

किसानों से द्विवेदीजी को बेहद प्रेम था। वे उन्हें अक्सर दवा-दारू दिया करते थे। इसमें वे यह न देखते थे कि किसान ऊंची जाति का है या नीची जाति का। एकबार एक अहीर किसान बैलगाड़ी में किसी दूसरे गांव को जा रहा था। उसकी तबीयत खराब थी। द्विवेदीजी ने उससे कहा—"द्याखौ, उहां कुछ अंट-संट न खाय लीन्ह्यों, नाहीं तो बहुत दिक्क होई जइहौ।" इस तरह वे उसे देर तक समझाते रहे। सर्टिफिकेट ऑव ऑनर के लिए पूछे जाने पर उन्होंने जो कहा था, वह अविस्मरणीय है। उन्होंने उत्तर दिया था—"बदलू चमार की जूड़ी उतर जाती है, तब मैं समझता हूं कि मुझे 'कैसरे हिंद' का तमगा मिल गया।" एक गरीब ठाकुर का जानवर कांजी हौस चला गया। वह भागा-भागा द्विवेदीजी के पास आया। उन्होंने देखा कि जाड़े के मौसम में भी उसके शरीर पर कपड़े नहीं हैं। उन्होंने उससे पूछा—"कपड़े नहीं हैं क्या?" इस पर वह रोने लगा। द्विवेदीजी के लिए यह बात असह्य थी। उन्होंने अपने कपड़े देकर उसका कष्ट कुछ कम किया। उनके यहां खेती के कामों के लिए जो तीन-चार मज़दूर होते थे, उनके कपड़े-लत्ते देखकर यह भ्रम हो जाता था कि वे उनके कुटुंबी हैं। वे उन्हें मासिक वेतन तो देते ही थे, दूसरे अनेक तरीकों से भी उनकी सहायता किया करते थे। एकबार तो उन्होंने खुश होकर एक मज़दूर को चांदी के कड़े बनवा दिए थे।

द्विवेदीजी सरकारी नौकरी में रह चुके थे और सरकारी महकमे में भी अत्यंत सम्मानित थे, इसलिए उनकी बहुत अधिक सामाजिक प्रतिष्ठा थी। लोग उन्हें 'महाबीरबाबू' या 'बाबूजी' कहकर पुकारते थे, तथापि वे किसानों में एकदम घुल-मिल जाते थे। वे उनसे हंसी-मजाक भी करते थे। सुबह और शाम को वे नियम से टहलने जाते थे। उसमें उनकी मुलाकात गांव के किसानों से होती थी। उनसे वे बोलते-बतियाते आगे बढ़ते थे। इसी में उन्होंने किसी बात पर एक बूढ़े किसान से कहा था—"खाउ अपनी दुलहिन की कसम।" वह किसान ठठाकर हंसने लगा था। किसानों से द्विवेदीजी का यह प्रेम ज़बानी जमा-खर्च नहीं था। उन्होंने उनके लिए लेखक और संपादक के रूप में राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था के विरुद्ध सुनियोजित संघर्ष चलाया था। 'संपत्तिशास्त्र' नामक पुस्तक लिखकर उन्होंने इसका खुलासा किया था कि किस तरह अंग्रेजों ने यहां आकर ज़मींदारी प्रथा को दृढ़ किया है, जिससे किसानों का शोषण और बढ़ गया है। उन्होंने 'अवध के किसानों की बरबादी' नामक एक अन्य पुस्तक लिखकर भी अवध के किसानों की दशा पर चिंता प्रकट की थी। पं०

बनारसीदास चतुर्वेदी से दौलतपुर में उन्होंने पूछा था—"तुमने किसानों के विषय में क्या-क्या लिखा है ?" चतुर्वेदी जी के यह कहने पर कि "लिखा तो कुछ है, पर बहुत कम", उन्होंने उन्हें किसानों के संबंध में लिखने को प्रेरित किया और कहा—"और कुछ नहीं कर सकते, तो आगरा डिस्ट्रिक्ट बोर्ड की पिछले चार वर्ष की रिपोर्ट ही मंगाकर उसका अध्ययन करो। देखो डिस्ट्रिक्ट बोर्ड की क्या आमदनी है, और ग्रामवासियों के लिए कितना रुपया खर्च होता है। इससे तुम्हें अपने जिले का विशेष हाल मालूम होगा। ग्रामों में तो स्कूलों का प्रबंध कहीं-कहीं है भी, पर दवा-दारू और सफाई का प्रबंध प्रायः नहीं के बराबर है।"

द्विवेदीजी का पारिवारिक जीवन भी सामान्य कोटि का न था। उन्होंने अपनी बहन और बहनोई को अपने यहां रख लिया था। कुछ दिनों के बाद उनकी उस एकमात्र बहन का निधन हो गया। द्विवेदीजी ने अपने बहनोई का दूसरा विवाह किया और उन्हें सपरिवार अपने यहां ही रखा। इस पत्नी से उनके बहनोई को तीन संतानें हुईं—दो कन्याएं और एक पुत्र। दुर्भाग्यवश कुछ दिनों के बाद उनका भी निधन हो गया। अपनी पत्नी की सहायता के लिए द्विवेदीजी ने अपनी बाल-विधवा सलहज को भी अपने यहां बुला लिया था। जब उनकी पत्नी का निधन हुआ, उनके परिवार में यही लोग थे—उनकी सलहज, उनके बहनोई की विधवा पत्नी तथा उनकी तीन संतानें। यही उनका परिवार था, जो अंत तक उनके साथ बना रहा। उन्होंने बहनोई की संतानों को अपनी संतानों की तरह पढ़ाया-लिखाया और उनका विवाह किया। श्री कमलाकिशोर त्रिपाठी उनके बहनोई के पुत्र थे। द्विवेदीजी अपनी सारी जायदाद उन्हीं को दे गए, जो कि उनके दूर के ही भानजे कहे जाएंगे। वे अपने इस परिवार के सदस्यों के व्यवहार से कभी-कभी बहुत उद्विग्न भी हो जाते थे, लेकिन एक क्षण के लिए भी उन्होंने अपने को उनसे अलग करने की बात नहीं सोची।

व्यवहार में बहुत ही बेलौस और रूखे समझे जाने वाले द्विवेदीजी को बच्चों से बेहद लगाव था। बच्चे भी उन्हें बहुत पसंद करते थे। उनके जिस कमरे में कोई भी चीज इधर से उधर नहीं हो सकती थी, वह प्रायः उनका खेल का मैदान बन जाता था। बच्चे कभी-कभी उनकी चौकी पर चढ़ जाते थे और उन्हें परेशान करते थे। वे पत्र लिखते होते थे कि बाहर से आकर एक बच्चा पूछता था—"बाबा, का लिखत है ?" "मुनिया का चिट्ठी लिखत है।"—वे उत्तर देते। चिट्ठी लिखते-लिखते वे खुद उस बच्चे को छेड़ते—"मुन्नी (कमलाकिशोरजी की बेटी—ले०) का जानत है ?" वह बच्चा कहता—"हां।" द्विवेदीजी उससे पुनः पूछते—"मुन्नी कहां रहति है ?" वह कहता—"इलाहाबाद।" इस पर द्विवेदीजी कहते—"हां, जानत हो।" इस पर वह बच्चा उछलता-कूदता अपने ज्ञान पर गर्व करता हुआ चला जाता था।

द्विवेदीजी व्यवस्थाप्रिय तो थे ही, स्वच्छताप्रिय भी थे। एकबार एक मजेदार घटना घटी। पं० लक्ष्मीधर वाजपेयी एक कार्यवश उनके गांव उनसे मिलने आए। उस समय द्विवेदीजी अपने नियम के अनुसार छोटा-सा झाड़न लिए सिर झुकाए किताबें पोंछ रहे थे। उन्होंने उनसे हाल-समाचार पूछा और फिर अपने काम में लग गए। वाजपेयी उस समय उनको व्यस्त समझकर बाहर चले आए और इधर-उधर देखने लगे। वे अपने जूते कमरे के बाहर छोड़ आए थे। जब वे लौटकर आए तो देखा कि जूतों पर धूल का नामोनिशान नहीं है और वे चमक रहे हैं। वे भौंचक रह गए। स्वच्छताप्रिय द्विवेदीजी से उनके गंदे जूते देखे नहीं गए थे। किताबें साफ करने के बाद जब वे बाहर आए तो लगे हाथ उन्होंने उनके जूतों को भी साफ कर दिया।

धीरे-धीरे द्विवेदीजी को संपूर्ण हिंदी-संसार से युग-निर्माता आचार्य के रूप में स्वीकृति मिलती गई। जिस नागरी प्रचारणी सभा से उनका इतना विवाद चला था, १९३१ ई० में सर्वप्रथम उसी ने उनका अभिनंदन किया। लेकिन सभा के अधिकारियों को इतने से ही संतोष न हुआ। उन्होंने उनके सत्तरहवें साल में प्रवेश करने के मौके पर २ मई, १९३३ ई० को सभा में एक बड़ा समारोह आयोजित करके उन्हें एक अभिनंदन-ग्रंथ भेंट किया। इस अभिनंदन-ग्रंथ का संपादन बाबू श्यामसुंदर दास और श्री रायकृष्णदास ने किया था। द्विवेदीजी सम्मान-भीरु थे, लेकिन सभा के साथ उनका संबंध कुछ ऐसा हो गया था कि उनके अस्वीकार करने से गलतफहमी फैलने की आशंका थी। ऐसी स्थिति में लाचार होकर उन्हें सभा द्वारा आयोजित समारोहों में उपस्थित होना पड़ा। इसके लिए उनपर दबाव भी बहुत डाला जा रहा था। जिस दिन उन्हें सभा में अभिनंदन-ग्रंथ समर्पित किया गया, उसके दो दिनों बाद ही प्रयाग के साहित्यकारों और नागरिकों की ओर से वहां द्विवेदी-मेला लगाया गया, जो कि अपने ढंग का प्रथम आयोजन था। इस अवसर पर द्विवेदीजी के सम्मान में जो समारोह आयोजित किया गया, उसकी अध्यक्षता महामहोपाध्याय डॉ० गंगानाथ झा ने की थी। वे द्विवेदीजी को अपना गुरु मानते थे, क्योंकि उन्होंने 'सरस्वती' के संपादन-काल में न केवल उन्हें हिंदी में लिखने की प्रेरणा दी थी, बल्कि उनकी भाषा भी संशोधित की थी। समारोह में उस समय विचित्र दृश्य उपस्थित हो गया, जबकि डॉ० झा द्विवेदीजी का चरण-स्पर्श करने को झुके।

हिंदी साहित्य सम्मेलन ने भी कई बार प्रयास किया कि द्विवेदीजी को उसका सभापति बनाकर सम्मानित किया जाए, पर वे हमेशा अस्वस्थता का बहाना बनाकर उससे बचते रहे। कानपुर में जब सम्मेलन का अधिवेशन हुआ, तो लोगों के आग्रह पर उन्होंने उसकी स्वागतकारिणी समिति का सभापति बनना अवश्य स्वीकार किया था। जीवन के अंतिम दिनों में बाबू पुरुषोत्तमदास टंडन ने उनसे

सम्मेलन की 'साहित्यवाचस्पति' की उपाधि ग्रहण करने का बहुत आग्रह किया तो वे नाहीं न कर सके। इस अवसर पर उन्होंने एक बहुत ही मार्मिक वक्तव्य दिया। उन्होंने कहा कि अब यह मेरे महाप्रस्थान का समय है, अतएव अपनी बात रखने के लिए मैं किसी का दिल नहीं दुखाऊंगा। वे वस्तुतः इन बातों को तुच्छ समझते थे और हिंदी की सेवा को अधिकाधिक महत्त्व देते थे। प्रयाग में सम्मेलन का जो दूसरा अधिवेशन हुआ था, उसमें उन्होंने सक्रिय रूप से भाग लिया था और यह कहा था कि हिंदी के लेखकों को यह प्रतिज्ञा करनी चाहिए कि वे हर साल एक पुस्तक लिखेंगे। इससे साहित्य की दरिद्रता जल्दी दूर हो जाएगी। द्विवेदीजी के लिए यह कथन केवल कथन नहीं था। वे तीन-चार सालों तक हर साल एक पुस्तक लिखते रहे। अंत में जब उनका स्वास्थ्य बहुत बिगड़ गया, तो उन्होंने पुस्तकें लिखना बंद किया।

जब द्विववेदीजी बहुत असमर्थ हो गए और उन्होंने देख लिया कि अब लिखने-पढ़ने का सिलसिला जारी नहीं रह सकता, तो उन्होंने पुस्तकों, पत्रिकाओं, पांडुलिपियों और पत्रों का अपना सारा संग्रह नागरी प्रचारिणी सभा को दान दे दिया। सभा के प्रति उनके प्रेम का यह अपूर्व उदाहरण था। सभा में उनका जो अभिनंदन किया गया था, उसमें उन्होंने सभा को एक बंद लिफाफा दिया था और यह कहा कि लिफाफा मेरे मरने के बाद खोला जाए। उनकी मृत्यु के बाद जब वह खोला गया, तो उसमें से दो सौ रुपए निकले, जो उन्होंने सभा के छोटे नौकरों को पुरस्कार के तौर पर देने के लिए दिए थे। अपनी मृत्यु के पहले उन्होंने एक काम और किया। अपनी गाढ़ी कमाई के छः हजार चार सौ रुपए उनके पास बचे हुए थे। ये रुपए उन्होंने काशी हिंदू विश्वविद्यालय को सेंट्रल हिंदू स्कूल के छात्रों को छात्रवृत्ति के रूप में देने के लिए दे दिए। एक राशि उन्होंने सभा को भी दी, जिसके ब्याज से अब हर दो साल पर प्रकाशित हिंदी पुस्तकों में से सर्वश्रेष्ठ पुस्तक के रचयिता को 'द्विवेदी स्वर्ण पदक' नामक एक पदक प्रदान किया जाता है।

द्विवेदीजी लंबी-चौड़ी और तगड़ी काठी के व्यक्ति थे, तथापि 'सरस्वती' के संपादनकाल में अत्यधिक श्रम से उनका स्वास्थ्य बुरी तरह बिगड़ गया। वस्तुतः वह कभी नहीं सुधरा। १९१० ई० में उन्होंने एक साल के लिए 'सरस्वती' से छुट्टी ली थी। १९१८ ई० में उन्हें दो सालों के लिए छुट्टी लेनी पड़ी। वे उन्निद्र रोग से तो पीड़ित थे ही, धीरे-धीरे स्नायविक दुर्बलता के कारण उन्हें मूर्च्छा भी आने लगी थी। दौलतपुर में रहते हुए उनके स्वास्थ्य में थोड़ा-बहुत सुधार जरूर हुआ, लेकिन दूसरी तरफ उनकी उम्र बढ़ती जा रही थी। इस कारण उनकी जीवनी-शक्ति में ह्रास होता गया। पहले भी वे कई बार भयानक रूप से बीमार पड़े थे, किंतु डॉक्टरों के निराश हो जाने पर भी बच जाते रहे थे। वृद्धावस्था में रोग का आक्रमण उनके लिए घातक सिद्ध हुआ।

यह १९३८ ई० की बात है। द्विवेदीजी बीमारियों के झटके खाते-खाते बहुत कमजोर हो गए थे। वे भोजन भी बहुत सादा और बहुत थोड़ा लेते थे। अब उन्हें सूखी खुजली ने परेशान करना शुरू किया। उन्होंने आयुर्वैदिक और होमियोपैथिक दवाओं का इस्तेमाल किया। अंत में उन्होंने मूत्र-परीक्षा कराई, जिससे पता चला कि उनके मूत्र में यूरेट की मात्रा बहुत बढ़ गई है। धीरे-धीरे उनके पेट में पानी आ गया और वे जलोदर के शिकार हो गए। रायबरेली के डॉ० शंकरदत्त शर्मा कमलाकिशोर जी की पुत्री के श्वसुर थे। इस समय वही उनकी चिकित्सा कर रहे थे। दौलतपुर में कोई लाभ न होते देखकर उन्होंने द्विवेदीजी से अनुरोध किया कि वे रायबरेली चलें। रास्ते में अनेक कष्ट उठाकर द्विवेदीजी कार से १८ नवंबर को संध्या चार बजे रायबरेली पहुंचे। वहां पहुंचकर उन्होंने डॉ० शर्मा से कहा—"भाई, बड़ी तकलीफ उठानी पड़ी, पर किसी तरह पहुंच गए।" सड़क कच्ची और ऊंची-नीची थी। इससे उन्हें दचके लगते थे और वे चीख उठते थे। वहां देखने पर पता चला कि उनके दोनों पांवों में सूजन आ गई थी।

१९ नवंबर से अनेक डॉक्टरों के परामर्श से उनकी चिकित्सा आरंभ हुई। दो-तीन दिनों के बाद उनके पांवों की सूजन तो चली गई, लेकिन पेट का पानी नहीं कम हुआ। जब काफी समय बीत गया और उसमें कोई लाभ नजर नहीं आया, साथ ही कष्ट बढ़ता गया, तो डाक्टरों ने तय किया कि पेट का पानी निकाल दिया जाए। ४ दिसंबर को एक डाक्टर ने उनके पेट से करीब पांच छः सेर पानी निकाला। इससे पेट के दर्द में कमी हुई और भूख भी बढ़ी। द्विवेदीजी दूध और फलों का रस कुछ अधिक मात्रा में लेने लगे। लेकिन उनकी कमजोरी में कोई फर्क नहीं पड़ा, बल्कि वह बढ़ती गई।

बाद में दूसरे डाक्टरों ने भी उन्हें देखा। सभी की राय यही थी कि जो दवा चल रही है वही चलाई जाए। लेकिन अब वह अवस्था आ गई थी, जबकि दवा का उन पर कोई असर नहीं दिखलाई पड़ता था। वे रात-दिन पलंग पर पड़े रहते थे। उठ-बैठ नहीं सकते थे। कभी-कभी थोड़ी देर के लिए मूर्च्छित भी हो जाते थे। दौलतपुर उनकी जन्मभूमि थी डॉ० शर्मा ने उनसे कई बार पूछा कि क्या आप अपने गांव लौटना चाहेंगे, पर हर बार उन्होंने वहां जाने से इंकार किया। उन्होंने कहा कि वहां क्या धरा है, जो जाऊं। वहां तो दवा-दारू की कोई व्यवस्था नहीं हो सकेगी।

१९ दिसंबर को सवेरे से उन्हें हिचकियां आने लगीं और मूर्च्छा भी बढ़ चली। कमलाकिशोर जी ने उन्हें कुछ होमियोपैथिक दवाइयां दीं, लेकिन उनसे भी कोई लाभ नहीं हुआ। उनकी हिचकियां बराबर बढ़ती ही गईं। २१ दिसंबर को पौने पांच बजे सुबह उनके मुंह से कुल्ला-भर पानी निकला और तत्क्षण

उनका प्राणांत हो गया। डॉ० शर्मा ने उनका शव कार से दौलतपुर भिजवाया, जहां उसी दिन तीसरे पहर उनका दाह-कर्म संपन्न हुआ।

द्विवेदीजी की मृत्यु का समाचार फैलते ही हिंदी संसार में शोक छा गया। इलाहाबाद विश्वविद्यालय बंद हो गया और प्रांतीय असेंबली में यथाविधि शोक प्रकट किया गया। हिंदी के सभी पत्रों ने हिंदी-भाषा और साहित्य के इस महान् सेनानी के प्रति प्रभावशाली शब्दों में श्रद्धांजलि अर्पित की।

२. नवचेतना के संवाहक

बीसवीं शताब्दी के आरंभिक दो दशकों का काल आधुनिक हिंदी साहित्य के इतिहास में 'द्विवेदी-युग' के नाम से जाना जाता है। स्पष्टतः यह नामकरण आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के नाम पर हुआ है। १९०३ ई० में वे 'सरस्वती' के संपादक हुए और १९२० ई० तक वे उसका संपादन करते रहे। इन दो दशकों में उन्होंने जो कुछ किया उसी के बल पर इस काल को 'द्विवेदी-युग' की संज्ञा दी गई है। लेकिन हिंदी में उनके कृतित्व के मूल्यांकन को लेकर एक विचित्र स्थिति रही है। प्रायः सभी इतिहासकारों, आलोचकों और विद्वानों ने उन्हें मात्र भाषा-संशोधक कहकर चलता कर देने की कोशिश की है। वास्तविकता यह है कि संपादन और लेखन दोनों के ही माध्यम से द्विवेदीजी ने समाज और संस्कृति के क्षेत्र में नये विचारों का प्रकाश फैलाया। यह कार्य उन्होंने इस देश के एक बड़े भू-भाग में किया, जिसमें हिंदी-भाषी जनता बसती है। यह जनता द्विवेदीजी के इस कार्य का बहुत ऊंचा मूल्य आंकती है और उन्हें मात्र भाषा-संशोधक नहीं मानती। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि वह उन्हें युग-निर्माता आचार्य के रूप में स्मरण करती है।

समाज और संस्कृति के क्षेत्र में द्विवेदीजी ने जिस नयी चेतना का प्रसार किया, उसका जायज़ा लेने के पहले यह देखना दिलचस्प होगा कि हिंदी के इतिहासकारों, आलोचकों और विद्वानों ने किस प्रकार उनका अवमूल्यन करने का प्रयास किया है। बाबू श्यामसुंदर दास ने 'सरस्वती' के 'द्विवेदी स्मृति अंक' (फरवरी १९३९) में यह लिखा था कि द्विवेदीजी का महत्त्व उनके लेखों में नहीं है। उनका महत्त्व विशेषकर इस बात में है कि उन्होंने भाषा को परिमार्जित और सुंदर रूप देने का सफलतापूर्वक उद्योग किया। बाबू श्यामसुंदर दास ने 'हिंदी साहित्य' के नाम से हिंदी साहित्य का एक इतिहास भी लिखा है। उसमें भी उन्होंने यही लिखा है कि द्विवेदीजी की समालोचनाएं भाषा की गड़बड़ी को दूर करने में सहायक हुईं। हिंदी साहित्य के सर्वश्रेष्ठ इतिहास-लेखक हैं आचार्य रामचंद्र शुक्ल। द्विवेदीजी के संबंध में उनकी धारणा भी बाबू श्यामसुंदर दास से ही मिलती-

जुलती है। उन्होंने अपने ग्रंथ 'हिंदी साहित्य का इतिहास' में लिखा है कि व्याकरण की शुद्धता और भाषा की सफाई के प्रवर्त्तक द्विवेदीजी ही थे। 'सरस्वती' के संपादक के रूप में उन्होंने आई हुई पुस्तकों के भीतर व्याकरण और भाषा की अशुद्धियां दिखलाकर लेखकों को बहुत कुछ सावधान कर दिया। यद्यपि कुछ हठी और अनाड़ी लेखक अपनी भूलों और गलतियों का समर्थन तरह-तरह की बातें बनाकर करते रहे, पर अधिकतर लेखकों ने लाभ उठाया और लिखते समय व्याकरण आदि का पूरा ध्यान रखने लगे। शुक्लजी आगे कहते हैं कि गद्य की भाषा पर द्विवेदीजी के इस शुभ प्रभाव का स्मरण जब तक भाषा के लिए शुद्धता आवश्यक समझी जाएगी तब तक बना रहेगा।

द्विवेदीजी के निबंधों को भी शुक्लजी ने भाषा की दृष्टि से ही महत्त्वपूर्ण माना है। उनके अनुसार लिखने की सफलता द्विवेदीजी इस बात में मानते थे कि कठिन से कठिन विषय भी ऐसे सरल रूप में रख दिया जाय कि साधारण समझने वाले पाठक भी उससे बहुत-कुछ समझ जाएं। तात्पर्य यह है कि भाषा की सरलता उनके लिए सबसे बड़ी कसौटी थी। शुक्लजी ने स्पष्ट लिखा है कि उनके निबंधों में न तो विचारों की नवीनता मिलती है और न सूक्ष्मता। द्विवेदीजी अत्यंत समर्थ आलोचक थे, लेकिन शुक्लजी ने उनकी आलोचना को भी भाषा की दृष्टि से ही महत्त्व दिया है। उनका कहना है कि यद्यपि द्विवेदीजी ने हिंदी के बड़े-बड़े कवियों को लेकर गंभीर साहित्य-समीक्षा का स्थायी साहित्य नहीं प्रस्तुत किया, पर नई निकली पुस्तकों की भाषा आदि की खरी आलोचना करके उन्होंने हिंदी साहित्य का बड़ा भारी उपकार किया। यदि द्विवेदीजी न उठ खड़े होते तो जैसी अव्यवस्थित, व्याकरण-विरुद्ध और ऊटपटांग भाषा चारों ओर दिखलाई पड़ती थी, उसकी परंपरा जल्दी न रुकती। उनके प्रभाव से लेखक सावधान हो गए और जिनमें भाषा की समझ और योग्यता थी, उन्होंने अपना सुधार किया।

द्विवेदीजी के संबंध में पहले के विद्वानों ने जो भ्रम फैलाया था, वह बाद में भी बना रहा, क्योंकि बाद में आनेवाले विद्वानों ने भी उन्हीं के विचारों की आवृत्ति की। उदाहरण के लिए डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी और पं० नंददुलारे वाजपेयी के विचार देखे जा सकते हैं। डॉ० द्विवेदी की एक पुस्तक है 'विचार और वितर्क'। उसमें 'द्विवेदीजी की देन—शैली' शीर्षक से द्विवेदीजी पर लिखित उनका एक निबंध संकलित है। इस निबंध में उन्होंने उनके युग के अन्य आचार्यों की तुलना में उनकी भाषा-शैली को ही महत्त्वपूर्ण बतलाया है। उन्होंने लिखा है कि और आचार्यों ने जहां अन्य विषयों से साहित्य के भंडार को भरा, वहां द्विवेदीजी ने भाषा को मांज-घिसकर उपयुक्त बनाने में सबसे अधिक परिश्रम किया। सच पूछा जाए तो संसार के आधुनिक साहित्य में एक अद्भुत-सी बात है कि एक आदमी अपने 'क्या' के बल पर नहीं, बल्कि 'कैसे' के बल पर साहित्य

का स्रष्टा हो गया। डॉ० द्विवेदी का यह आश्चर्य निराधार है, क्योंकि द्विवेदीजी वस्तुतः भाषा के बल पर नहीं, बल्कि अपने नये विचारों के बल पर साहित्य-स्रष्टा बने थे। यह जरूर है कि अपने विचारों को फैलाने में उन्हें अपनी सरल और व्यवस्थित भाषा से अधिकाधिक मदद मिली थी। डॉ० द्विवेदी ने 'हिंदी साहित्य' के नाम से हिंदी साहित्य का एक इतिहास भी लिखा है। उसमें उन्होंने द्विवेदीजी के निबंधों पर यह विचित्र टिप्पणी की है : "पं० महावीरप्रसाद जी द्विवेदी के स्पष्टवादिता से भरे हुए और नयी प्रेरणा देनेवाले निबंध यद्यपि बहुत गंभीर नहीं कहे जा सकते, परंतु उन्होंने गंभीर साहित्य के निर्माण में बहुत सहायता पहुंचाई।" द्विवेदीजी के निबंध 'स्पष्टवादिता से भरे हुए' और 'नयी प्रेरणा देने वाले' हैं, लेकिन वे 'बहुत गंभीर नहीं कहे जा सकते'! फिर भी कमाल यह है कि 'उन्होंने गंभीर साहित्य के निर्माण में बहुत सहायता पहुंचाई'!

'श्री महावीरप्रसाद द्विवेदी' शीर्षक से पं० नंददुलारे वाजपेयी का एक निबंध उनकी पुस्तक 'हिंदी साहित्य : बीसवीं शताब्दी' में संकलित है। इस निबंध की विडंबना यह है कि यह पहली बार द्विवेदी-अभिनंदन-ग्रंथ के संपादकों के नाम से उक्त ग्रंथ की भूमिका के रूप में छपा था। इसमें वाजपेयी जी ने द्विवेदीजी के अनुवाद, उनके काव्य और उनकी आलोचना को अस्थायी महत्त्व की वस्तुएं घोषित किया है और लिखा है कि उनका स्थायी महत्त्व भाषा-संशोधक के रूप में ही है। वे कहते हैं कि क्यों न 'सरस्वती' की सब संख्याएं, जिनमें द्विवेदीजी और उनकी मित्र-मंडली की कृतियां हैं, हिंदी के स्थायी कला-भवन में रख दी जाएं? और उनके साथ ही द्विवेदीजी का वह संशोधन, काट-छांट और कायापलट भी एकत्र कर दिया जाए, जो उन्होंने मूल प्रतियों में किया था और जिनके कारण वे प्रतियां मुद्रित प्रतियों से भी अधिक दर्शनीय और संग्राह्य हो गई हैं। वाजपेयीजी ने इस निबंध में द्विवेदीजी की मौलिक कृति 'संपत्तिशास्त्र' को भी अनूदित ग्रंथों में सम्मिलित कर लिया है, जो कि उनकी सर्वश्रेष्ठ कृति है। इससे इस बात का बखूबी अंदाजा मिल जाता है कि द्विवेदीजी पर अपने इतिहास और आलोचना-ग्रंथों में टिप्पणी करनेवाले आलोचक उनके कृतित्व से कितना परिचित हैं।

'सरस्वती' के संपादक के रूप में द्विवेदीजी ने भाषा-संशोधन का जो कार्य किया वह अत्यंत महत्त्वपूर्ण होते हुए भी न कोई क्रांतिकारी कार्य था, न उनका सर्वश्रेष्ठ कार्य। इसका कारण यह है कि उन्होंने पहली बार वह भाषा नहीं चलाई थी, जो 'सरस्वती' में या उनके अपने लेखन में देखने को मिली। बाबू बालमुकुन्द गुप्त, बाबू श्यामसुंदर दास आदि लेखक पहले से व्यवस्थित हिंदी लिखते आ रहे थे। 'भारतमित्र', 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' आदि पत्र-पत्रिकाओं की हिंदी भी भारतेंदु-युग की हिंदी की अपेक्षा काफी विकसित थी।

यदि द्विवेदीजी की भाषा की तुलना इन सबों की भाषा से की जाए तो दोनों में कोई खास फर्क नहीं नज़र आएगा। ऐसी स्थिति में द्विवेदीजी के भाषा-संशोधन-कार्य को इतना बढ़ा-चढ़ाकर देखना कि वह उनके शेष सभी कार्यों से बढ़कर मालूम दे, किसी तरह से उचित नहीं है। इसके अलावा यह भी ज्ञातव्य है कि उन्होंने सर्वथा परिष्कृत और व्याकरण-सम्मत भाषा लिखना सीखकर 'सरस्वती' का संपादन आरंभ नहीं किया था। उनकी भाषा जैसी १९०३ ई० में थी, वैसी १९२० ई०में नहीं रही। इस तरह उनकी भाषा में जो विकास हुआ, उसका सारा श्रेय उन्हीं को नहीं है, उसका श्रेय हिंदी के दूसरे लेखकों को भी है। भाषा किसी एक लेखक की संपत्ति नहीं होती है। उसे उसमें लिखने और उसे बोलने वाले सभी मिल-जुलकर विकसित करते हैं। द्विवेदीजी दूसरों की भाषा संशोधित करने के साथ-साथ दूसरे लेखकों और उसे बोलनेवालों की मदद से अपनी भाषा भी विकसित कर रहे थे। ऐसी स्थिति में खड़ी बोली को व्यवस्थित और परिष्कृत करने का श्रेय एकमात्र उन्हीं को कैसे दिया जा सकता है।

१९७७ ई० में हिंदी के प्रसिद्ध आलोचक डॉ० रामविलास शर्मा की शोधपूर्ण आलोचनात्मक पुस्तक 'महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण' प्रकाशित हुई। इस पुस्तक में पहली बार लेखक और संपादक के रूप में द्विवेदीजी के प्रदेय पर वस्तुपरक ढंग से विचार किया गया है। इससे डा० शर्मा इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि द्विवदीजी का असली महत्त्व इस बात में है कि उन्होंने हिंदी भाषा क्षेत्र में उस आधुनिक विचारधारा का प्रसार किया, जिससे कि हिंदी नवजागरण का तीसरा दौर संभव हुआ। उनके अनुसार हिंदी नवजागरण का पहला दौर है १८५७ का स्वाधीनता-संग्राम और उसका दूसरा दौर है भारतेंदु हरिश्चंद्र का युग। नवजागरण के तीसरे दौर में पुरानी व्यवस्था को बदलने की मांग अधिक उग्र और व्यापक हो गई। द्विवेदीजी ने समाज और संस्कृति दोनों की ही समस्याओं का वैज्ञानिक ढंग से विश्लेषण कर हिंदीभाषी जनता को स्वाधीनता-प्राप्ति की दिशा में तेजी से आगे बढ़ने के लिए प्रेरित किया। उनका उद्देश्य था सामंती और औपनिवेशिक व्यवस्था को समाप्त कर जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में जनवादी व्यवस्था कायम करना। उनका भाषा-संशोधन का काम नये युग की भाषा खड़ी बोली के प्रतिमानीकरण से संबंधित था। इस तरह यह नवजागरण के कार्यक्रम का ही एक अंग था, लेकिन जैसा कि कहा जा चुका है, यह उनका सर्वप्रमुख कार्य नहीं था।

पिछले पृष्ठों में किसानों के संबंध में द्विवेदीजी की चिंता से हम परिचित हो चुके हैं। उन्होंने श्री बनारसीदास चतुर्वेदी को किसानों के बारे में लिखने के लिए प्रेरित किया था। किसान वस्तुतः उनके लिए इस देश की आबादी का सबसे महत्त्वपूर्ण हिस्सा थे। जुलाई, १९१४ की 'सरस्वती' में उन्होने 'देश की बात'

शीर्षक से एक टिप्पणी लिखी थी। इसमें उन्होंने लिखा था कि देश का मतलब है देश में रहनेवाले आदमी और चूंकि उनमें सत्तर प्रतिशत किसान हैं, इसलिए 'देशभक्ति' का मतलब है किसानों की सेवा। उन्हें सुधारवादी नेताओं से सख्त शिकायत थी। उनके ये प्रश्न ध्यान देने योग्य हैं : "हर साल जो यह कांग्रेस होती है उसने आज तक किसानों पर अपनी कितनी भक्ति प्रकट की है ? उसके किए हुए प्रस्तावों में कितने प्रस्ताव ऐसे हैं, जिनसे किसानों को लाभ पहुंचने की संभावना है अथवा इन प्रांतिक सभाओं ने ही इन बेचारों के लिए क्या किया है ? कांग्रेस के जो प्रतिनिधि इस समय विलायत की हवा खा रहे हैं वे इन लोगों की कौन-कौन-सी शिकायतें सुनाने के इरादे से वहां गए हैं ?" इस उद्धरण से यह स्पष्ट है कि द्विवेदीजी किसानों और उनकी आर्थिक समस्याओं को कितना अधिक महत्त्व देते थे।

१९०८ ई० में द्विवेदीजी की 'संपत्तिशास्त्र' नामक पुस्तक प्रकाशित हुई। यह पुस्तक स्वयं उनकी दृष्टि में भी ऐसी पुस्तक थी, जो कि 'अच्छे विषय' पर लिखी गई थी। एक स्थल पर बहुत ही अफसोस के साथ उन्होंने लिखा है : "समय की कमी के कारण मैं विशेष अध्ययन न कर सका। इसी से 'संपत्तिशास्त्र' नामक पुस्तक को छोड़कर और किसी अच्छे विषय पर मैं कोई नई पुस्तक न लिख सका।" इस पुस्तक में अंग्रेजों ने इस देश की भूमि-व्यवस्था में जो परिवर्तन किया था उसका उन्होंने सूक्ष्म विश्लेषण किया और उससे किसानों की जो बर्बादी शुरू हुई थी, उससे निकलने का रास्ता भी सुझाया।

अंग्रेजों के आने के पहले भारत की अपनी भूमि-व्यवस्था थी। उनके पहले जो भी विदेशी जातियां आई थीं उन्होंने इस भूमि-व्यवस्था में कोई परिवर्तन नहीं किया था। वे यहीं बस गई थीं और उन्होंने यहां भूमि पर कर वसूलने की जो पद्धति थी उसे स्वीकार कर लिया था। कर वसूलनेवाले बदल गए थे, लेकिन और कुछ नहीं बदला था। इस भूमि व्यवस्था में भूमि पर किसानों का संयुक्त स्वामित्व होता था और वे उपज का एक हिस्सा कर के रूप में राजा या बादशाह को दिया करते थे। कर के रूप में दिया जानेवाला उपज का यह हिस्सा उपज की मात्रा के मुताबिक घटता-बढ़ता रहता था। राज्य यह कर कभी सीधे अपने कर्मचारियों द्वारा वसूलता था और कभी बिचौलियों के द्वारा, जिनमें जमींदार, लगान के ठीकेदार आदि हुआ करते थे। ये बिचौलिए बाद के जमींदारों से भिन्न होते थे, क्योंकि वे जिस भूमि का कर वसूलते थे, उसके मालिक नहीं होते थे। उन्हें कर वसूलने के एवज़ में सिर्फ उसका एक भाग कमीशन के रूप में मिलता था।

जब अंग्रेज यहां पर आए और उन्होंने इस देश पर अपना शासन कायम किया तो उन्हें पैसों की सख्त जरूरत हुई। पैसे उन्हें व्यापार में मुनाफ़े के लिए भी चाहिए थे, प्रशासन चलाने के लिए भी और लड़ाइयों के द्वारा अपने राज्य का

विस्तार करने के लिए भी। इसका सारा बोझ उन्होंने इस देश के किसानों पर डाल दिया। इसके लिए जरूरी था कि परंपरागत भूमि-व्यवस्था में परिवर्तन किया जाए। पहले तो उन्होंने कर वसूलने की पुरानी पद्धति को ही आजमाया। यद्यपि उन्होंने कर को बढ़ा दिया था, तथापि उससे जो आमदनी हुई वह उन्हें कम मालूम पड़ी। अब उन्होंने कर वसूलने का अधिकार सबसे ऊंची बोली लगाने वालों को नीलाम कर दिया। लेकिन इससे भी उनकी जरूरत पूरी नहीं हुई। कर से प्राप्त होने वाली रकम को लेकर एक अनिश्चितता उत्पन्न हो गई। अगले साल कितना कर वसूला जाएगा और उसे वसूलने वाला कौन होगा, यह सब निश्चित नहीं रहा। इसका परिणाम यह हुआ कि खेती में सुधार लाने में न जमीन जोतने वाले किसानों की दिलचस्पी रही, न उनसे कर वसूलनेवाले जमींदारों की। इस परिस्थिति से बचने के लिए अंग्रेजी हुकूमत ने स्थायी बंदोबस्त किया।

इस स्थायी बंदोबस्त ने भारत की परंपरागत भूमि-व्यवस्था के ढांचे को एकदम तोड़ दिया। अब किसानों से कर वसूल करने वाले ज़मींदारों को जमीन का मालिक बना दिया गया। पहले जहां वे केवल एजेंट थे वहां अब अपनी ज़मींदारी में सारी जमीन पर उनका अधिकार कायम हो गया। स्वामित्व के उनके इस अधिकार को पैतृक और हस्तांतरणीय बना दिया गया। दूसरी ओर किसानों को रैयत का दर्जा दे दिया गया और उनसे भूमि-संबंधी सारे अधिकार छीन लिए गए। ज़मीन पर से उनका संयुक्त स्वामित्व समाप्त कर दिया गया और वह ज़्यादातर अलग-अलग व्यक्तियों में बांट दी गई। उन्हें चरागाह, जंगल, सिंचाई के लिए तैयार की गई नहर, मछली-पालन के काम में आनेवाले तालाब आदि के उपयोग का अधिकार परंपरा से मिला हुआ था। अब किसान उसके अधिकारी नहीं रहे और वे पूरी तरह से ज़मींदारों की दया पर छोड़ दिए गए। अब वे कर की जगह लगान देने लगे, जिसकी रकम ज़मीन के हिसाब से ज़मींदारों द्वारा मनमाने ढंग से तय की जाती थी। इसका परिणाम यह हुआ कि लगान का उपज से कोई संबंध नहीं रहा। अब उपज कम हो या ज्यादा, लगान की निर्धारित रकम समय पर देनी ही पड़ती थी।

भूमि-व्यवस्था में अपने लाभ के लिए अंग्रेजों ने जो परिवर्तन किया, उससे किसानों की तबाही बढ़ने लगी। द्विवेदीजी ने इस स्थिति को गौर से देखा और अपनी पुस्तक 'संपत्तिशास्त्र' में उसकी बहुत ही तीखी आलोचना की। उन्होंने लिखा कि पुराने ज़माने में हिंदुस्तान में ज़मीन पर राजा का स्वामित्व न था। हर आदमी अपनी ज़मीन का मालिक था। राजा उससे सिर्फ उसकी ज़मीन की पैदावार का छठा हिस्सा ले लिया करता था। बस राजा का सिर्फ इतना ही हक था। वह एक प्रकार का कर था, ज़मीन का लगान नहीं। द्विवेदीजी ने कर और लगान में फर्क किया और पुराने सामंतों से अंग्रेज़ों की तुलना करते हुए कहा

कि अंग्रेज़ों ने इस देश के किसानों को अपना रैयत बना कर यहां की ज़मीन पर अपना एकाधिकार कायम कर लिया है। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में लिखा कि अब ज़मीन की मालिक गवर्नमेंट बन गयी है। वह ज़मीन का लगान लेती है और लोगों को लाचार होकर देना पड़ता है। यह रक्षण-कर नहीं है, यह ज़मीन जोतने का बदला है। अथवा यों कहें कि लगान नहीं, यह एक प्रकार का किराया है। सरकारी ज़मीन, सरकारी ज़मीन पर की खानें, सरकारी ज़मीन पर के तालाब बिना भाड़े के नहीं मिलते। इसी भाड़े का नाम 'लगान' है। ज़मीन पर जो किसानों का स्वामित्व समाप्त हो गया उसका सबूत यह है कि लगान नहीं देने पर ज़मींदार उनकी ज़मीन नीलाम के द्वारा उनसे छीनकर दूसरे को दे सकता था। यही बात ज़मींदारों पर भी लागू थी। जमींदार भी जब सरकार द्वारा निर्धारित रकम उसे नहीं दे पाते थे, उनकी ज़मींदारी नीलाम हो जाती थी। इस प्रकार सही अर्थों में ज़मींदार भी ज़मीन के मालिक नहीं थे और सारी जमीन पर अंग्रेज़ों का एकाधिकार था। इस तथ्य से यह निष्कर्ष निकलता है कि इस देश में अंग्रेज़ी शासन का चरित्र मूलतः पूंजीवादी नहीं, बल्कि सामंती था। उसे सबसे ज़्यादा आय लगान से ही होती थी।

आमतौर पर यह समझा जाता है कि अंग्रेज़ों ने इंगलैंड की ज़मींदारी-प्रथा यहां लागू थी। यह बात सही नहीं है। कारण यह कि इंगलैंड में ज़मींदार रैयत की दृष्टि से ही नहीं, राज्य की दृष्टि से भी ज़मीन के मालिक थे। इस देश में ज़मींदारों को राज्य का रैयत बना दिया गया था। इसके अलावा इंगलैंड के ज़मींदार जहां अपनी आय का एक छोटा-सा हिस्सा लगान के रूप में देते थे, वहां यहां के ज़मींदारों को अपनी उस ज़मीन की आय का एक अच्छा खासा-हिस्सा सरकार को देना पड़ता था, जिसका उन्हें मालिक समझा जाता था। इस मालिकी का यह हाल था कि वह हिस्सा न देने पर बिना किसी दिक्कत के उन्हें किसानों की तरह ही बेदखल किया जा सकता था और उनकी ज़मींदारी को नीलाम कर दिया जा सकता था।

भूमि-व्यवस्था में इस आमूलचूल परिवर्तन का यह परिणाम हुआ कि देश के किसान बर्बाद हो गए। अंग्रेज़ ज़मींदारों पर मालगुजारी बढ़ाते थे और ज़मींदार रैयत पर। इससे पुरानी किस्म के ज़मींदारों के हाथ से, जो फसल मारी जाने पर रैयत पर थोड़ा-बहुत रहम दिखलाया करते थे, उनकी ज़मींदारी निकल गई और किसान तो भूखों मरने लगे। जब मालगुजारी हद से ज्यादा बढ़ाए जाने की शिकायत की जाती थी, तो अंग्रेज कहते थे कि ऐसा नहीं हुआ है और उन्होंने जो शासन-व्यवस्था कायम की है, वह मुगलों की शासन-व्यवस्था की तुलना में बेहतर है। इस संबंध में द्विवेदीजी ने लिखा था कि यदि मालगुजारी ज्यादा नहीं, तो फिर क्या कारण है जो हजारों-लाखों कृषकों के बैल-बधिए बिक जाते हैं

और लाखों एकड़ जमीन नीलाम हो जाती है ? आप देहात में जाकर देखिए, सौ-पचास किसानों में कहीं एकाध आपको ऐसा मिलेगा, जिसे रोटी-कपड़े की तकलीफ न हो। यह हम समय-सुकाल की बात कहते हैं। अकाल में तो जो दृश्य देहात में दीख पड़ता है, वह बहुत ही हृदय-द्रावक होता है। यदि यह मान भी लिया जाए कि लगान की अधिकता अकाल की भीषणता का कारण नहीं, तो यह प्रश्न उठता है कि अंग्रेजी राज के पहले भी तो कभी-कभी अकाल पड़ता था। पर उस समय प्रजा में इतना हाहाकार क्यों न मचता था ? एक भी फसल मारी जाने या खराब होने से क्यों न उस समय लाखों आदमी दाने-दाने के लिए तड़पते फिरते थे ? द्विवेदीजी ने लगान-वृद्धि के संबंध में जो कुछ लिखा था, वह बिलकुल सही था। इसका सबूत यह है कि मालगुजारी की जो रकम १८५७-५८ ई० में १५.३ करोड़ रुपए थी, वह बढ़कर १९३६-३७ ई० में ३५.८ करोड़ रुपए हो गई। सरकार की ओर से कृषि-सुधार पर बहुत कम खर्च किया गया और उधर जनसंख्या बढ़ती गई। सरकार ने अपनी करीब सारी आय ब्रिटिश भारत के प्रशासन की आवश्यकताओं को पूरा करने, इंगलैंड को प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष नजराना भेजने तथा ब्रिटिश व्यापार और उद्योग के हितों को साधने में लगा दी। कानून और व्यवस्था बनाए रखने पर जो खर्च किया गया उसका लाभ भी किसानों की अपेक्षा सौदागरों तथा महाजनों को मिला। आए दिन पटवारी चौकीदार रखने, स्कूल और अस्पताल खोलने के लिए भी किसानों पर नये-नये कर लगाए जाते थे। इसने किसानों को पूरी तरह से चूस लिया। द्विवेदीजी ने बहुत तकलीफ से यह बात लिखी थी कि "यदि इस देश के संपत्ति-रस को निचोड़ना ही था, तो और किसी मद से निचोड़ते जहां अधिक गीलापन होता। निचोड़ा कहां से जहां मुश्किल से दो-चार बूंद निकलीं।"

ज़मीन का लगान तो बढ़ता जाता ही था, उसको वसूल करने के कठोर तरीके ने उसे और भयानक बना दिया था। यदि निर्धारित तिथि पर लगान नहीं जमा किया जाता था, तो किसानों की ज़मीन नीलाम हो जाती थी और वे खेत-मज़दूर बनने को बाध्य हो जाते थे। ऐसे ही संकटकाल में वे महाजन से ब्याज की ऊंची दरों पर कर्ज़ लेते थे। नीलामी से बचने के लिए उन्हें उनके यहां प्रायः अपनी ज़मीन गिरवी रखनी पड़ती थी। लेकिन इससे उनकी ज़मीन बचती नहीं थी और महाजन के चक्कर में अंततः वह उनके हाथ से निकल कर रहती थी। गरीबी के कारण हर बार उन्हें महाजन के पास जाना पड़ता था और वह जाल-साजी करके उन्हें इस हाल में पहुंचा देता था कि अपनी ज़मीन उसे दे देने के अलावा उनके पास कोई चारा नहीं रह जाता था। अंग्रेज़ों ने जो नया कानून बनाया था, उससे महाजनों को बहुत मदद मिली। पुलिस और कचहरी का उपयोग उन्होंने किसानों को लूटने के लिए किया। अंग्रेज़ी हुकूमत को किसानों

की वदहाली की कोई चिंता न थी, क्योंकि महाजनों के अस्तित्व के कारण ही उसे किसानों से लगान मिल पाता था। यदि किसानों की ज़मीन नीलाम होती थी तो फिर वह दूसरे किसानों के पास ही जाती थी। इससे हुकूमत के लिए कोई फर्क नहीं पड़ता था। अंग्रेज़ी राज में महाजनी और सूदखोरी बहुत बढ़ गई थी। उन्नीसवीं सदी के अंत तक महाजन ग्रामीण क्षेत्र का मुख्य अभिशाप बन गया था। १९११ ई० में ग्रामीण ऋण तीन अरब रुपए आंका गया था, जो कि १९३७ ई० तक १८ अरब रुपए तक पहुंच गया था। यही कारण था कि १८५७ के विद्रोह में किसानों ने अपने आक्रमण का पहला निशाना महाजनों और उनकी बहियों को बनाया।

इस ज़मींदारी-प्रथा का परिणाम यह हुआ कि किसान बड़े पैमाने पर भुखमरी के शिकार हुए। अगस्त, १९१५ की 'सरस्वती' में द्विवेदीजी ने ईश्वरदास मारवाड़ी का एक लंबा लेख छापा—'भारतीय किसानों के उद्धार के उपाय'। इसमें लेखक ने अट्ठारहवीं शताब्दी में पड़ने वाले दुर्भिक्षों से अंग्रेज़ी राज के दुर्भिक्षों की तुलना की और लिखा कि अट्ठारहवीं शताब्दी के प्रारंभ से लेकर अंत तक केवल चार बार दुर्भिक्ष पड़ा है, जबकि उन्नीसवीं शताब्दी में उसकी संख्या बहुत ज्यादा रही है। १८०० से १८२५ ई० तक संपूर्ण ब्रिटिश भारत में दस लाख भारतवासी भूखों मरे। १८२५ से १८५० ई० तक पांच लाख और १८५० से १८७५ ई० तक पचास लाख मनुष्यों ने बिना अन्न अपने प्राण खोए। उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम पच्चीस सालों का दुर्भिक्ष तो अत्यंत हृदय-विदारक है। केवल इन पच्चीस सालों में अट्ठाईस बार भारत में दुर्भिक्ष पड़ा, जिसकी ज्वाला में लगभग चार करोड़ मनुष्य भस्म हो गए। संसार में युद्ध से बहुत नर-हत्या होती है, किंतु जितने मनुष्य अकाल के कारण भारत में सौ सालों में मरे, उतने संसारके सारे युद्धों में भी उनसौ सालों में नहीं मरे। ये आंकड़े अंग्रेज़ी राज के भयानक शोषक और अत्याचारी रूप को अच्छी तरह से उजागर करते हैं। द्विवेदीजी 'सरस्वती' के माध्यम से इन तथ्यों को प्रकाश में लाकर अंग्रेज़ी राज के असली चरित्र पर से पर्दा उठा रहे थे और उसके दावों की पोल खोल रहे थे।

द्विवेदीजी ने जून और जुलाई, १९१८ की 'सरस्वती' में श्री गंगाधर पंत का लेख छापा—'अवध के ज़मींदार और काश्तकार।' इस विस्तृत लेख के माध्यम से उन्होंने 'सरस्वती' के पाठकों को बतलाया कि ज़मींदारी-प्रथा कई मंजिलों वाली एक बहुत ही चक्करदार प्रथा है। श्री पंत ने लिखा था कि यदि नवाबी के बाद के समय का मिलान आजकल के समय से किया जाए तो दीख पड़ता है कि कहां तो एक बार सरकार अपने और किसान के बीच में और किसी को रखना ही नहीं चाहती थी और अब दरजे-ब-दरजे कई सीढ़ियों तक लोगों के हक रक्षित कर दिए हैं और उन्हें मानने को वह तैयार है। सरकार के नीचे होते

हैं ताल्लुकेदार या ज़मींदार, जो मालिकआला कहे जाते हैं। उनके नीचे मातहत-दार, मौरूसी काश्तकार या मामूली काश्तकार होते हैं। ये लोग अपनी ज़मीन शिकमियों को दे सकते हैं। मामूली काश्तकार कम से कम थोड़ा हिस्सा ज़मीन का अपने लिए जोतने-बोने को अपने नाम से रख लेता है। काश्तकार और ज़मींदार के बीच में ठीकेदार बहुधा मौजूद पाए जाते हैं। इस तरह ज़मींदारी-प्रथा एक पेचीदी प्रथा थी। इसकी व्याख्या और रक्षा करने के लिए जो कानून बनाया गया था, वह भी बहुत पेचीदा था। इसी पेचीदे कानून ने पटवारियों से लेकर वकीलों तक की एक फौज खड़ी कर दी थी, जो कचहरियों में किसानों की मेहनत पर ही पलती थी।

दक्षिण और दक्षिण-पश्चिम भारत में ज़मींदारी प्रथा के बदले रैयतवारी बंदोबस्त था। चूंकि इन क्षेत्रों में बड़े ज़मींदार नहीं थे, इसलिए अंग्रेज़ों ने सीधे वास्तविक किसानों के साथ बंदोबस्त किया। इसके अंतर्गत किसानों को अपने खेत का स्वामी माना गया, बशर्ते कि वे लगान अदा करें। लेकिन इससे ज़मीन पर उनका स्वामित्व स्थापित नहीं हो सका। कारण यह कि इस बंदोबस्त को स्थायी नहीं बनाया गया। उसे नियमित रूप से बीस से तीस सालों के बाद संशोधित कर दिया जाता था। उसके साथ ही प्रायः लगान की रकम भी बढ़ा दी जाती थी। थोड़े ही दिनों के बाद किसानों ने समझ लिया कि वे ज़मीन के मालिक नहीं हैं और अनेक ज़मींदारों की जगह एक बड़े विशाल ज़मींदार राज्य ने ले ली है। रैयतवारी बंदोबस्त मद्रास और बंबई प्रेसिडेंसियों में किया गया था। द्विवेदीजी ने इस बंदोबस्त के बारे में 'संपत्तिशास्त्र' में लिखा था कि जहां यह रीति है वहां की भी रियाया खुश नहीं। सरकार अपना लगान लेने से नहीं चूकती, पर ज़मीन सुधारने के लिए प्रायः कुछ भी खर्च नहीं करती। ज़मीन को उपजाऊ बनाने या न बनाने की जिम्मेदारी काश्तकारों के हिस्से रहती है। पर उनको यह डर लगा रहता है कि सरकार जब चाहेगी लगान बढ़ा देगी या ज़मीन से ही बेदखल कर देगी। जब पैदावार बहुत कम हो जाती है और लगान नहीं बेबाक होता तब कर्ज लेना पड़ता है। क्रम-क्रम से कर्ज की मात्रा बढ़ती जाती है और एक दिन घर-द्वार, बैल-बधिया नीलाम हो जाते हैं। खेती ही प्रधान व्यवसाय ठहरा। उसकी यह दशा होने से लोगों को भीख मांगने की नौबत आती है। यदि किसी साल पानी न बरसा तो भयंकर दुर्भिक्ष पड़ता है और लाखों आदमी मृत्यु के मुंह में चले जाते हैं। बंबई और मद्रास में हर साल हजारों काश्तकारों की ज़मीन नीलाम होती है।

अंग्रेज़ी राज में ज़मींदारी और रैयतवारी प्रथा के द्वारा किसानों का जो शोषण किया गया, उससे अंग्रेज़ी राज के वर्ग-चरित्र पर प्रकाश पड़ता है। अंग्रेज़ों ने ज़मींदारों के एक समृद्ध और विशेषाधिकारयुक्त वर्ग को इसलिए जन्म दिया था कि वह उनके शासन को अपना समर्थन देकर उसे स्थिर बनाएगा। उनकी

यह आशा तब पूरी हुई, जब इस वर्ग ने उदीयमान स्वतंत्रता-आंदोलन के विरुद्ध विदेशी सरकार का पक्ष ग्रहण किया। दूसरी ओर उत्पीड़ित किसान थे, जिन्होंने १८५७ में अंग्रेज़ी हुकूमत को उखाड़ फेंकने के लिए जो विद्रोह हुआ था, उसमें मुख्य भूमिका अदा की थी। उनकी लगातार बिगड़ती हुई हालत ही थी, जिसके चलते वे स्वाधीनता-आंदोलन की मुख्य प्रेरक शक्ति बन गए।

द्विवेदीजी अंग्रेज़ी हुकूमत के विरुद्ध चलाए जाने वाले संघर्ष में किसानों के साथ थे। उन्होंने 'संपत्तिशास्त्र' में लिखा : "प्रजा के हितचिंतकों की राय है कि इस देश की ज़मीन प्रजा की है। न राजा की है, न जमींदारों की। जो ज़मीन जिस काश्तकार के कब्ज़े में चली आती है उसे उसकी मौरूसी जायदाद समझना चाहिए।" किसानों को ज़मीन पर मौरूसी हक कैसे प्राप्त होता ? यह तभी संभव था जबकि अंग्रेज़ों द्वारा कायम की गई जमींदारी-प्रथा खत्म की जाती और विदेशी साम्राज्यवादियों ने देशी सामंतों से गठजोड़ करके किसानों को जो लूटना शुरू किया था, उसका सिलसिला बंद होता। ध्यान देने की बात यह है कि द्विवेदी जी ज़मींदारी-प्रथा के खात्मे की मांग कर वस्तुतः ब्रिटिश साम्राज्यवाद की वह बुनियाद खोद डालना चाहते थे, जिस पर वह टिका था। इससे इनके विचारों की क्रांतिकारिता को समझा जा सकता है। भारतीय स्वाधीनता-आंदोलन के सुधारवादी नेता जहां सामंत-विरोधी किसान-आंदोलन को स्वाधीनता-आंदोलन से अलग रखना चाहते थे, वहां द्विवेदीजी उसे उक्त आंदोलन की मुख्य शक्ति बनाना चाहते थे।

ऊपर कहा जा चुका है कि द्विवेदीजी के लिए 'देशभक्ति' का मतलब था किसानों की सेवा। वे किसानों को ही 'देश' समझते थे और यह मानते थे कि वे नष्ट हो गए तो कुछ नेताओं के भाषण से देश अपनी पूर्वावस्था को नहीं प्राप्त कर सकेगा। उनकी दृष्टि में किसान ही सबसे बड़ी शक्ति थे, क्योंकि "यदि कृषकों से लगान मिलना बंद हो जाए तो बड़े-बड़े राजा-महाराजाओं और ताअल्लुकेदारों की दुर्गति का ठिकाना न रहे। सरकार के शासन चक्र का चलना बंद हो जाए, वकीलों और बैरिस्टरों के गाड़ी-घोड़े बिक जाएं, और व्यापारियों तथा महाजनों को शीघ्र ही टाट उलटना पड़े।" यह किसानों की शक्ति का उद्घोष है। द्विवेदीजी ने इन शब्दों के माध्यम से परोक्ष रूप से यह बतलाया था कि लगान बंदी ही वह रास्ता है, जिससे अंग्रेज़ी हुकूमत और उसके सहायकों को समाप्त किया जा सकता है। उनका चिंतन जितना क्रांतिकारी था, उनका स्वाधीनता-आंदोलन-संबंधी कार्यक्रम भी उतना ही क्रांतिकारी था। उन्होंने 'किसानों का संगठन' शीर्षक एक लेख लिखा। यह लेख उनकी पुस्तक 'लेखांजलि' में संकलित है। इसमें उन्होंने किसानों को प्रशिक्षित करने और उन्हें उनका हक दिलाने के लिए न केवल उनके संगठन के निर्माण पर बल दिया, बल्कि उसकी एक रूपरेखा भी

प्रस्तुत की। वे चाहते थे कि संगठन का प्रधान कार्यालय इलाहाबाद में रहे और हर जिले के सदर मुकाम में उसकी एक शाखा हो। जिलों की शाखाएं तहसीलों में फैली हों और तहसीलों की शाखाएं गांवों में। द्विवेदीजी ने किसानों के संगठन के लिए 'किसान-सभा' नाम का प्रयोग किया है। उसकी रूपरेखा उन्होंने उत्तर प्रदेश को ध्यान में रखकर बनाई थी, लेकिन उसके अनुसार किसी भी प्रांत के किसान अपने को संगठित कर सकते थे।

उपर्युक्त लेख में द्विवेदीजी ने यह भी लिखा था कि कोई गैरकानूनी काम न किया जाए तथा किसानों और ज़मींदारों के बीच विरोध न बढ़ने दिया जाए। लेकिन यह संभव न था, कारण यह कि किसान और ज़मींदार इन दोनों के हित परस्पर विरोधी थे। द्विवेदीजी ने जुलाई १९१५ की 'सरस्वती' में 'खेती की बुरी दशा' शीर्षक एक लेख लिखा था, जिसमें उन्होंने कहा था: "इन ज़मींदारों का ज़मीन पर क्या हक है, कुछ समझ में नहीं आता? बीच में इन्हें डालकर क्यों गवर्नमेंट इनका घर भरती और काश्तकारों का मुनाफ़ा कम करती है? जो काश्तकार जेठ की प्रचंड धूप और सावन-भादों की निरंतर झड़ी में खेतों में परिश्रम करते हैं वे उन खेतों से होनेवाले नफ़े के मुस्तहक हैं या आराम-कुरसी पर लेटने और मोटरकार पर दौड़ लगानेवाले ज़मींदार?" इससे स्पष्ट है कि वे ज़मींदार-किसान-संघर्ष को बचाने की बात कहते हुए भी किसानों को संगठित होकर ज़मींदारों के विरुद्ध उठ खड़े होने के लिए प्रेरित कर रहे थे। यदि वे सीधे-सीधे उग्र राजनीतिक विचार नहीं व्यक्त कर रहे थे, तो इस कारण कि उन्हें अंग्रेज़ी हुकूमत के अनेक प्रतिबंधों के भीतर रहकर काम करना पड़ रहा था। और 'सरस्वती' के मालिक की इच्छानुसार उन्होंने घोषित कर रखा था कि 'सरस्वती' राजनीति से दूर रहेगी। असल में द्विवेदीजी उग्र राजनीतिक विचारों के व्यक्ति थे और अपनी सीमाओं के बावजूद वे अपने लेखन और संपादन के माध्यम से हिंदी क्षेत्र में उग्र राजनीतिक चेतना का प्रसार कर रहे थे।

द्विवेदीजी को पता था कि किसान जब अपने हक की लड़ाई छेड़ेंगे, तो उनके सामने अनेक प्रकार के विघ्न आएंगे। उनके बारे में 'किसानों का संगठन' शीर्षक लेख में ही वे दृढ़ विश्वास के साथ कहते हैं: "विघ्न बाधाएं फिर भी उपस्थित होंगी, परन्तु ३/४ जनसमुदाय की आवाज़ के सामने १/४ समुदाय के द्वारा उपस्थित किए गए विघ्न कितनी देर तक ठहर सकेंगे? एक बात और भी तो है। अवशिष्ट १/४ समुदाय में भी तो बहुत से लोग किसानों के पृष्ठपोषक हैं।" इस प्रकार उन्होंने बहुसंख्यक किसान-जनता के आंदोलन को अपराजेय बतलाया। दूसरे उन्होंने इस बात का संकेत किया कि अल्पसंख्यक गैरकिसान जनता में भी किसानों के हित के समर्थक हैं।

अंग्रेज़ों ने जैसे यहां के किसानों को बर्बाद किया वैसे ही यहां के दस्तकारों

और व्यापारियों को भी। वे यहां भारत के बाज़ार में इंगलैंड में बना हुआ माल बेचने के लिए नहीं आए थे। वे यहां आए थे भारत में बने हुए माल को इंगलैंड तथा अन्य देशों में ले जाकर बेचने और इससे उस पर मुनाफ़ा कमाने के लिए। वे यहां से कपड़ा, मसाला आदि ले जाते थे और बदले में कुछ अन्य वस्तुएं अथवा बहुमूल्य धातुएं देते थे। इसका असर खास तौर से ब्रिटेन के वस्त्र-उद्योग पर पड़ा। वहां के विनिर्माताओं ने अपनी सरकार पर दबाव डालकर भारतीय सूती कपड़े के आयात की, जिसकी ब्रिटेन में बहुत मांग थी, या तो मनाही करवा दी या उस पर भारी आयात शुल्क लगवा दिया। इससे भारतीय वस्त्र-उद्योग और व्यापार को गहरा धक्का लगा। लेकिन वह पूरी तरह से नष्ट तब हुआ, जबकि ब्रिटेन में औद्योगिक क्रांति हुई। अब ब्रिटेन की मिलों में बना हुआ कपड़ा भारत आने लगा। चूंकि वहां के विनिर्माताओं ने भारत में ईस्ट इंडिया कंपनी के व्यापारिक एकाधिकार को खत्म करा दिया था, उस पर कोई रोक नहीं रही। अंग्रेज़ी सरकार ने 'मुक्त व्यापार' की नीति की दुहाई दी, लेकिन यह 'मुक्त व्यापार' कैसा था? इसमें ब्रिटेन से आनेवाली वस्तुओं पर या तो कोई शुल्क नहीं लगता था, या लगता था भी तो नाम मात्र को। दूसरी ओर भारतीय वस्तुओं के ब्रिटेन में प्रवेश करने पर या तो रोक लगी थी, या उन पर भारी शुल्क देना पड़ता था। इस परिस्थिति ने भारतीय उद्योग के सामने अस्तित्व का संकट उपस्थित कर दिया। भारतीय दस्तकारी की वस्तुएं ब्रिटेन की मिलों की वस्तुओं का मुकाबला करने में असमर्थ थीं। ब्रिटेन की मिलें आविष्कारों के प्रयोग तथा भाप की शक्ति का व्यापक उपयोग कर अपनी उत्पादक क्षमता में तेजी से सुधार ला रही थीं। यदि भारत में भारतीय सरकार होती, तो वह यहां के उद्योग को विदेशी वस्तुओं पर ऊंचा सीमा-शुल्क लगा कर बचा सकती थी और इस बीच पश्चिमी देशों से नई तकनीक आयात कर उसे विकसित कर सकती थी। ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी, संयुक्त राज्य अमरीका आदि ने यही रास्ता अपनाया था, लेकिन भारत के लिए यह संभव नहीं था। यहां विदेशी हुकूमत थी, जिसने न केवल भारतीय उद्योग की रक्षा नहीं की, बल्कि उसे समाप्त करने के लिए कुछ भी उठा नहीं रखा।

एच०एच० विलसन नामक एक ब्रिटिश इतिहासकार ने ब्रिटेन की व्यापारिक नीति के अनौचित्य पर इन शब्दों में प्रकाश डाला है: "अगर भारत स्वतंत्र होता तो उसने बदले की कार्रवाई की होती, उसने ब्रिटिश वस्तुओं पर निषेधात्मक शुल्क लगाए होते, और इस प्रकार उसने उत्पादक उद्योग को विनाश से बचाया होता। आत्मरक्षा की यह कार्रवाई करने की इजाजत उसे नहीं थी; वह अजनबी लोगों की मर्जी पर निर्भर था। शुल्क-मुक्त ब्रिटिश वस्तुएं उसके ऊपर लाद दी गईं; विदेशी विनिर्माता ने राजनीतिक अन्याय का सहारा एक ऐसे प्रतिद्वंद्वी को दबाने और अंततोगत्वा दबोच लेने के लिए लिया, जिसके मुकाबले में वह

समान शर्तों पर नहीं ठहर सकता था।" द्विवेदीजी इन तमाम बातों से परिचित थे। उन्होंने 'संपत्तिशास्त्र' में ही लिखा था कि यदि इस देश में बाहर से आनेवाला माल कर लगाकर रोका जाए, या उसकी आमदनी कम की जाए, तो यहां की आर्थिक अवस्था की बहुत जल्द उन्नति हो जाए। इंगलैंड ने खुद ही शुरू-शुरू में यह बात की थी। भारतीय माल पर उसने कड़े से कड़ा कर लगाकर विलायत में उसकी आमदनी रोकी और विलायती माल बिना कर या बहुत थोड़ा कर लगाकर, भारत में भर दिया। फल यह हुआ कि यहां का प्रायः सारा व्यापार और प्रायः सारे उद्योग धंधे मारे गए।

भारतीय व्यापार के समाप्त हो जाने का अनिवार्य परिणाम यह हुआ कि इस देश में औद्योगीकरण की संभावना समाप्त हो गई। औद्योगीकरण व्यापार के विस्तार की देन होता है। अंग्रेज़ों ने दो सौ सालों तक अपने व्यापार का विस्तार किया था और अनेक देशों को अपना उपनिवेश बनाकर उनके बाजार पर कब्जा कर लिया था। इससे व्यापारिक मुनाफा कमाने का जो अवसर पैदा हुआ था, उसी ने औद्योगिक क्रांति की प्रेरणा दी। औद्योगिक क्रांति के परिणामस्वरूप दस्तकारी की जगह मशीनों से चलनेवाले कारखानों ने ले ली। भारत के व्यापार को नष्ट कर अंग्रेज़ों ने इसे कच्चा माल पैदा करनेवाला एक पिछड़ा हुआ खेतिहर देश बनने के लिए मजबूर किया। वह अब तैयार माल निर्यात करने के बदले ब्रिटिश उद्योगों के लिए कपास, कच्चा रेशम, नील, चाय आदि कच्चा माल निर्यात करने लगा। ब्रिटेन में अनाज की कमी थी। लाचार होकर भारत को उसे अनाज भी निर्यात करना पड़ा, जबकि यहां लोग भूखों मर रहे थे। इस संबंध में द्विवेदीजी ने उक्त पुस्तक में ही लिखा था कि इस अनाज की यहां भी बड़ी ज़रूरत रहती है, क्योंकि भारत में बार-बार दुर्भिक्ष पड़ता है। दुर्भिक्ष के समय यदि देश में अनाज अधिक हो तो जरूर ही सस्ते भाव बिके। पर वह सात समुंदर पार इंगलैंड भेज दिया जाता है और उसे पैदा करनेवाले यहां भूखों मरते हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारत में कुछ कल-कारखाने खुलने लगे और खास तौर से सूती कपड़े का उत्पादन शुरू हुआ। इस भारतीय उद्योग को अंग्रेज़ों ने किसी प्रकार की सहायता नहीं दी, क्योंकि इसका हित उपनिवेशवादियों के हित से टकराता था। ब्रिटिश विनिर्माता भारतीय सूती कपड़ा-उद्योग तथा अन्य उद्योगों को अपना प्रतिद्वंद्वी समझते थे। इस कारण उन्होंने सरकार पर दबाव डाला कि वह भारत में औद्योगिक विकास को न केवल किसी प्रकार का संरक्षण न दे, बल्कि उसे सक्रिय रूप से अनुत्साहित करे। अंग्रेजी सरकार ने उसी के अनुरूप आचरण किया और भारतीय उद्योग को वित्तीय अथवा किसी अन्य प्रकार की सहायता देने से इनकार तो किया ही, उसके विकास के

मार्ग में तरह-तरह की बाधाएं खड़ी कीं। द्विवेदीजी ने इस स्थिति की आलोचना यह कहकर की थी कि शुरू-शुरू में इंगलिस्तान की गवर्नमेंट ने यहां के कपड़े की रफ्तनी को, विलायत में उस पर कड़ा महसूल लगाकर, बिल्कुल ही रोक दिया यहां का व्यापार—यहां का कला-कौशल—मारा गया। अब जब उसके 'पुनर्जीवन' की ओर लोगों का ध्यान गया है, तब यथेष्ट कर लगाकर विलायती वस्तुओं की आमदनी रोकी नहीं जाती। यदि किसी विलायती चीज पर कुछ महसूल है भी, तो इतना कम है कि न होने के बराबर है। उन्होंने यह भी लिखा था कि जिस इंगलैंड ने अपना औद्योगिक विकास भारतीय माल के प्रवेश पर रोक अथवा उसके आयात पर भारी शुल्क लगाकर किया था, वही जब अपना माल खपाने की जरूरत हुई, तो 'अबाध वाणिज्य' की बात करने लगा।

भारतीय उद्योग को 'पुनर्जीवन' तब मिलने लगा, जब इस देश में भी मशीनों से चलनेवाले कल-कारखाने खड़े होने लगे। यहां लक्ष्य करने योग्य बात यह है कि अपने देश के उद्धार के लिए द्विवेदीजी ने पीछे की ओर न देखकर आगे की ओर देखा। तात्पर्य यह कि उन्होंने औद्योगिक विकास के लिए दस्तकारी और गृह-उद्योग के सामंती तरीके को न पसंद कर मशीनों से होनेवाले उत्पादन के पूंजीवादी तरीके को पसंद किया। उन्होंने कहा कि श्रम-विभाग और श्रम-संयोग से जैसे श्रम की उत्पादकता बढ़ जाती है, वैसे ही कलों और औज़ारों की मदद से भी बढ़ जाती है। कलों से कितना जल्द और कितना अच्छा काम होता है, कपड़ा सीने की कल इस बात का प्रत्यक्ष उदाहरण है। यदि रेल का इंजन न बनता, तो लाखों मन माल एक जगह से दूसरी जगह इतने थोड़े समय और इतने थोड़े खर्च से कभी न पहुंच सकता। जितने बड़े पुतलीघर और कारखाने हैं, प्रायः सब में कलों से ही काम लिया जाता है। हाथ से काम करनेवाले आदमी इन कारखानों की बराबरी नहीं कर सकते। इससे श्रम की उत्पादक शक्ति बहुत बढ़ जाती है, माल बहुत तैयार होता है और लागत कम लगने से चीजें बहुत सस्ती बिकती हैं। कलों के प्रयोग से ऐसे-ऐसे काम होते हैं, जो आदमी से हो ही नहीं सकते।

मशीनों के प्रयोग से संबंधित द्विवेदीजी के उपर्युक्त विचारों की तुलना महात्मा गांधी के मशीन-संबंधी विचारों से की जाए, तो वह दिलचस्प होगा। द्विवेदीजी ने जहां मशीनों को उत्पादकता बढ़ाने का साधन मानकर उनके प्रयोग की अपेक्षा बतलाई, वहां महात्मा गांधी ने उन्हें 'महापाप' कहा। अपनी पुस्तक 'हिंद स्वराज्य' में मशीनों का विरोध करते हुए वे कहते हैं: "मशीनों ने यूरोप को उजाड़ना शुरू कर दिया है और अब उनकी हवा हिंदुस्तान में भी पहुंच गई है। कलें आधुनिक सभ्यता की खास निशानी हैं और मैं तो साफ देख रहा हूं कि ये महापाप हैं।" यहां दो दृष्टिकोणों का अंतर स्पष्ट है। महात्मा गांधी ने

जहां औद्योगीकरण का विरोध किया है और उत्पादन की सामंती प्रणाली की पुनःस्थापना पर बल दिया है, वहां द्विवेदीजी ने औद्योगीकरण का समर्थन किया है और मशीनों से चलनेवाले कारखानों का महत्त्व प्रतिपादित किया है। ब्रिटेन में जो औद्योगिक क्रांति हुई थी, उसने भारतीय कारीगरों को बर्बाद कर दिया, इस बात को जानते हुए भी द्विवेदीजी ने देश की प्रगति में मशीनों की भूमिका समझी। उनका नज़रिया एकदम साफ था। वे इस बात को अच्छी तरह समझ रहे थे कि दोष मशीनों का नहीं, उनका इस्तेमाल करनेवाली गलत व्यवस्था का है। वे मशीनों का समर्थन कर रहे थे, इसका मतलब यह नहीं है कि वे विदेशी कारखानों में बने मालों का स्वागत कर रहे थे। वे चाहते थे कि उनके अपने देश के कारखानों में माल तैयार हो, जिससे कि उनके अपने देश की संपत्ति बढ़े। यह सुपरिचित तथ्य है कि वे दृढ़ता से स्वदेशी-व्रत का पालन करते थे और अपने काम में कभी कोई विदेशी वस्तु नहीं लाते थे।

द्विवेदीजी ने पूंजीवादी उत्पादन-पद्धति का समर्थन किया, किंतु पूंजीवादी व्यवस्था की आलोचना की। उन्होंने जैसे किसानों के संगठन की आवश्यकता बतलाई, वैसे ही उन्होंने मज़दूरों के संगठन की भी आवश्यकता बतलाई। उन्होंने 'संपत्तिशास्त्र' में ही लिखा था कि मजदूर लोग प्रायः अपढ़ होते हैं, कायदे-कानून से वाकिफ़ नहीं होते। फिर निर्धन होते हैं, इस कारण अपने वाजिबी हकों को पाने के लिए भी पूंजीवालों से झगड़ा नहीं कर सकते। क्योंकि यदि पूंजीवाले कारखानेदार उन्हें काम से छुड़ा दें तो बेचारों को भूखों मरने की नौबत आवे। परंतु अपने व्यवसाय की समिति का सभासद् हो जाने से ये डर दूर हो जाते हैं। समिति के कार्यकर्त्ता सभासदों के हकों के लिए पूंजीवालों से बाकायदा लड़ते हैं, उनकी उजरत बढ़ाने और काम के घंटों को कम करने की कोशिश करते हैं, और यदि पूंजीवाले श्रमजीवियों की उजरत कम करना चाहें तो वैसा न होने देने के लिए यथाशक्ति उपाय करते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि ट्रेड यूनियन-आंदोलन का द्विवेदीजी द्वारा काफी पहले किया गया यह समर्थन देश के प्रगतिशील विचारकों में उन्हें काफी ऊंचे स्थान पर प्रतिष्ठित कर देता है।

मज़दूर संघों की ओर से की जानेवाली कार्रवाइयों में हड़ताल प्रमुख है। आज भी अपने देश में ऐसे नेताओं की कमी नहीं है, जो मज़दूरों द्वारा की जाने वाली हड़ताल का न केवल विरोध करते हैं, बल्कि उसे एक राष्ट्रद्रोही कार्य मानते हैं। वे कहते हैं कि हड़ताल से उत्पादन में कमी आ जाती है, जिससे देश की अर्थ-व्यवस्था पर बुरा असर पड़ता है। इस कारण वे मज़दूरों को अनुशासित करने की बात करते हैं। उनके विपरीत द्विवेदीजी ने लिखा था कि कारखानों के मालिक हमेशा यही सोचते हैं कि काम बहुत लें पर मजदूरी कम दें। ऐसी अवस्था में मज़दूरों अथवा अन्यान्य श्रमजीवियों को बहुत कष्ट उठाने पड़ते हैं।

उन्हें प्रतिदिन अधिक समय तक काम करना पड़ता है और उजरत कम मिलने के कारण उन्हें खाने-पीने और पहनने को भी काफी नहीं मिलता। इससे लाचार होकर उन्हें अपने दुःख मालिक को सुनाने पड़ते हैं, शिकायतें करनी पड़ती हैं, अर्जियां देनी पड़ती हैं। अपनी तकलीफें दूर करने की वे भरसक सब तरह कोशिश करते हैं। इस पर भी यदि उनकी दाद-फरियाद काम न करे तो वे हड़ताल न करें तो करें क्या? ऐसे मौकों पर हड़ताल करना अनुचित नहीं। वह एक प्रकार का अस्त्र है। यदि वह उचित रीति पर, योग्य समय में, दृढ़तापूर्वक चलाया जाए तो चलानेवालों को सफलता होती है। द्विवेदीजी न केवल हड़ताल के पक्ष में हैं, बल्कि वे उसे एक अस्त्र समझते हैं और उसे ठीक समय पर संगठित रूप से और दृढ़तापूर्वक चलाने की बात कहते हैं। यह उनकी प्रगतिशीलता का ज्वलंत प्रमाण है।

पूंजीपतियों और मज़दूरों के हितों में अंतर्विरोध होता है। इस अंतर्विरोध को दूर करने की अनेक कोशिशें की गई हैं, पर वे कामयाब नहीं हुई हैं। अंत में द्विवेदीजी जिस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं, वह आश्चर्य में डाल देनेवाला है। उन्होंने जनवाद से आगे बढ़कर समाजवाद की बात की है और कहा है: "यदि कहीं मजदूर ही पूंजीवाले हो जाएं तो इस झगड़े और इस हित-विरोध का समूल ही नाश हो जाए।" वे चाहते थे कि पूंजीवादी उत्पादन के बदले मज़दूरों द्वारा सहकारिता के आधार पर उत्पादन का नियोजन किया जाए। उन्होंने लिखा है कि जब किसी व्यवसाय में लगी हुई सब पूंजी उस व्यवसाय में श्रम करने वाले मज़दूरों या अन्य लोगों की होती है, तब उसे सहोद्योग कहते हैं। इस रीति से व्यापार-व्यवसाय करने में किसी तरह का हित-विरोध नहीं होता। इससे संपत्ति की उत्पत्ति और उसके विभाग में बहुत लाभ होता है। यहीं उन्होंने यह आशा प्रकट की है कि मनुष्य-समाज जैसे-जैसे सुशिक्षित और सभ्य होता जाएगा, वैसे-ही-वैसे इस तत्त्व का महत्त्व अधिकाधिक लोगों के ध्यान में आता जाएगा।

ऊपर द्विवेदीजी के लेख 'किसानों का संगठन' का हवाला दिया गया है। उसमें उन्होंने अभिनंदनात्मक भाव से रूसी क्रांति का जिक्र किया है, जो कि उनकी वैचारिक प्रगतिशीलता की स्वाभाविक परिणति का सूचक है। उन्होंने लिखा है: "उधर रूस को देखिए। वह बहुत बड़ा देश है। कई वर्ष पूर्व वहां के जार नामधारी राजेश्वर का आतंक वहीं नहीं, भूमंडल के अन्यान्य देशों में भी छाया हुआ था। उन्हीं सर्वशक्तिमान् सत्ताधीश की सत्ता ही का नहीं, उनके वंश तक का नामो-निशान मिटाकर रूस के किसान और सैनिक अब स्वयं ही वहां का शासन कर रहे हैं। यह सारी करामात संगठन की है। वहां के किसान और सैनिक आपस में गठ गए। उन्होंने कहा, जो जुल्म हम पर हो रहे हैं उनका एकमात्र कारण यहां की बिगड़ी हुई शासन-व्यवस्था है। उसे तोड़ देना चाहिए। यह निश्चय करके

उन्होंने अपना ऐसा संगठन किया जिसकी बदौलत उनका साध्य सिद्ध हो गया।"

द्विवेदीजी के इन विचारों का निहितार्थ स्पष्ट है। वे किसान और मज़दूर को स्वाधीनता-आंदोलन की दो प्रमुख शक्तियां मानते थे। उनका दृढ़ विश्वास था कि किसान यदि लगान देना बंद कर दें और मज़दूर यदि हड़ताल कर दें, तो अंग्रेज़ी हुकूमत की जड़ हिल जाएगी। वे किसान-मजदूर एकता को स्वाधीनता-आंदोलन की धुरी समझते थे। इससे स्वराज्य की उनकी जनवादी कल्पना का भी संकेत मिलता है। स्वराज्य वे किसानों और मज़दूरों के लिए चाहते थे, न कि ज़मींदारों और पूंजीपतियों के लिए।

आरंभ में संकेत किया गया है कि द्विवेदीजी ने हिंदीभाषी प्रदेश में आधुनिक विचारधारा का प्रसार किया। तत्कालीन अर्थ-व्यवस्था का गंभीर विश्लेषण कर उन्होंने किसानों और मजदूरों को अपने अधिकारों की प्राप्ति के लिए ज़मींदारों और पूंजीपतियों के विरुद्ध संघर्ष करने की प्रेरणा दी। इसके साथ ही उन्होंने ज्ञान और संस्कृति के क्षेत्र में रूढ़िवाद का विरोध किया और वैज्ञानिक प्रगति के कारण जो नयी सच्चाइयां संसार के सम्मुख प्रकट हुई थीं, उनसे लोगों को परिचित कराने में अपने लेखन और संपादन दोनों को लगा दिया। वे वैज्ञानिक चिंतन के पक्षपाती थे, इसलिए उन्होंने न पुनरुत्थानवाद का समर्थन किया, न पश्चिम का अंधानुकरण करनेवालों की तरह अपनी परंपरा की ही उपेक्षा की। भारत के अतीत को उन्होंने आलोचनात्मक दृष्टि से देखा और उसमें जो कुछ मूल्यवान् था, उसे स्वीकार किया। इस क्षेत्र में उनकी उल्लेखनीय विशेषता अपने देश की भौतिकवादी चिंतन परंपरा का अनुसंधान है।

सितंबर, १९०१ की 'सरस्वती' में द्विवेदीजी का एक लेख निकला था—'निरीश्वरवाद।' इस लेख में उन्होंने 'सर्वदर्शनसंग्रह' नामक पुस्तक से चार्वाक-मत से संबंधित श्लोक उद्धृत किए, जिनका उन्हीं के द्वारा किया गया अनुवाद निम्नलिखित है :

१. न स्वर्ग है, न अपवर्ग है, न पारलौकिक आत्मा है और न वर्णाश्रम-परायण मनुष्यों की क्रिया ही किसी प्रकार फल की देनेवाली है।

२. अग्निहोत्र करना, वेद पढ़ना, त्रिदंड संन्यास लेना और भस्म इत्यादि धारण करना निर्बुद्धि और पौरुषहीन आलसी लोगों की जीविका सुख से निर्वाह होने के लिए ब्रह्मा ने बनाया है।

३. ज्योतिष्टोन यज्ञ में मारा गया पशु यदि स्वर्ग को जाता है तो यज्ञ करने वाला यजमान यज्ञ में अपने बाप ही को क्यों नहीं मारकर उसे स्वर्ग भेज देता।

४. मरे हुए प्राणियों को भी घर बैठे श्राद्ध करने से यदि तृप्ति हो सकती है तो एक स्थान से दूसरे स्थान को जानेवालों के लिए इस लोक में 'सतुआ' बांधना व्यर्थ है (व्यर्थ पाथेयकल्पनम्)। घर में एक बार श्राद्ध कर देने ही से वर्ष भर के

लिए छुट्टी हो जानी चाहिए।

५. उतनी दूर स्वर्ग में रहनेवाले प्राणियों की भी यदि दान से तृप्ति होनी संभव है तो यहां बड़े-बड़े ऊंचे घरों के दूसरे तीसरे खंडों में रहनेवालों की उसी प्रकार दान से तृप्ति क्यों नहीं होती ?

द्विवेदीजी ने चार्वाक-मत के दार्शनिकों के बारे में लिखा है कि उनकी तर्क-शक्ति अत्यंत बलवती और उनकी विवेक-परंपरा अत्यंत विशाल थी। चूंकि यह दर्शन अनीश्वरवादी और कर्मकांड-विरोधी था, इसलिए यह भारत-जैसे धर्मप्रधान देश में लुप्त हो गया। लेकिन डॉ० रामविलास शर्मा-जैसे विद्वान् ऐसा नहीं मानते। उनका कहना है कि चार्वाक-मत की विवेक-परंपरा लुप्त नहीं हुई। वह कभी वेदांत से मिलकर और कभी उससे अलग रहकर जनसाधारण को शासक-वर्ग के कर्मकांडी प्रचार के प्रति सावधान करती रही। हिंदी के कबीर जैसे कवियों में जो तर्क शक्ति दिखलाई पड़ी, उसका संबंध उपनिषद् से नहीं, बल्कि इसीपरंपरा से था।

१९२१ ई० में द्विवेदीजी ने 'श्रीहर्ष का कलियुग' शीर्षक एक लेख लिखा। उनका यह लेख उनकी 'साहित्य-संदर्भ' नामक पुस्तक में संकलित है। इसमें उन्होंने श्रीहर्ष के नैषधचरित में कलियुग का जो वर्णन किया गया है, उसका परिचय दिया है। कलियुग का सैनिक ठीक चार्वाक-मतवालों की तरह देवताओं से तर्क करता है। उदाहरण के लिए उसके ये कुछ कथन देखे जा सकते हैं :

१. आपके वेदों में लिखा है कि यज्ञ करने से स्वर्ग की प्राप्ति होती है। लिखा है न ? जरा बताइए तो सही, किस-किस ने यज्ञ करके स्वर्ग पाया है। वेदों में अगर लिखा हो कि पत्थर फेंकने से वे पानी पर तैरने लगते हैं, तो क्या आप वेदों की इस उक्ति को भी सच मान लेंगे ?

२. तुम्हारे वेद कहते हैं, पाप करने से अगले जन्म में ताप और पुण्य करने से सुख होता है। पर इस जन्म में इसका उलटा प्रत्यक्ष देख पड़ता है— फिर क्यों न प्रत्यक्ष प्रमाण को मानकर जन्मजन्मांतर की न देखी हुई कपोल-कल्पित बातों पर विश्वास करते हो ? इसका क्या ठिकाना कि मरकर फिर जन्म होगा ?

३. हिंसा से पाप होता है या नहीं ? वैदिकी हिंसा से पाप नहीं होता, यह विचार क्या संदेह से खाली है ? कितने ही आचार्य इस प्रकार की हिंसा को निंद्य ठहराते हैं या नहीं ? अरे धूर्तों, कुछ तो अक्ल से काम लेते !

दिसंबर, १८९८ में द्विवेदीजी ने संस्कृत में 'कथमहं नास्तिकः' शीर्षक एक कविता लिखी। यह कविता लिखने की जरूरत उन्हें इसलिए महसूस हुई कि लोग उन्हें नास्तिक कहने लगे थे। यह उनके 'सरस्वती' का संपादन-भार ग्रहण करने से पहले की घटना है। इस कविता में उन्होंने कहा है कि मंदिरों और मूर्तियों को हम नमस्कार तो करते हैं, पर ईश्वर सारे जगत् में विद्यमान है, इसलिए प्रतिमाओं से विशेष प्रेम नहीं है। ऐसे लोग हैं, जो स्त्रियों को घूरने के लिए

सवेरे-शाम मंदिर जाते हैं। इन लोगों की प्रशंसा की जाए तो आस्तिकता खत्म हो जाएगी। इसके बाद उन्होंने कहा है कि हे जगदीश! प्रतिदिन प्रातःकाल हाथ को कपड़े में छिपाकर अनेक प्रकार के मंत्र जप करने के मिस जो लोग दूसरों को पीड़ा पहुंचाने का ही चिंतन करते हैं, उनको हमारा से दूर ही से नमस्कार। हे देव! यदि इसी प्रकार की धार्मिकता से लोगों को संतोष होता हो, तो बहुत अच्छी बात है, वह भली-भांति संतुष्ट हों। परंतु हम तो प्राण जाने तक भी इस प्रकार की धार्मिकता की अभिलाषा नहीं रखते। लोग हमको भले ही नास्तिक कहा करें। अंत में उन्होंने यह कहा है कि हे देव! हमने भूल से भी कभी गोमुखी में हाथ नहीं डाला, यही नहीं, बल्कि यथासमय संध्योपासन भी नहीं किया। हम पवित्र सत्य का ही जप करते हैं। सत् पुरुषों में जो हमारी भक्ति है, उसी को, हे प्रभो! हमारी देवपूजा मानिए! द्विवेदीजी नास्तिक नहीं थे, लेकिन रूढ़िवाद के प्रवल विरोधी थे। उनका रूढ़ि-विरोध कवीर से मिलता-जुलता है। स्वभावतः उन्होंने चार्वाक की परंपरा को विवेकशील कहा और नैषधचरित में उन्हें कलियुग का वर्णन पसंद आया।

द्विवेदीजी की चिंतन पद्धति चूंकि एक वड़ी हद तक भौतिकवादी थी इसलिए उन्होंने वेदों को कभी अपौरुषेय नहीं माना। १९०७ ई० में उन्होंने 'वेद' शीर्षक से एक लेख लिखा था। यह लेख उनकी पुस्तक 'साहित्य-सीकर' में संकलित है। इसमें उन्होंने कहा है कि वेदों को ईश्वरकृत माना जाता है, लेकिन उन्हें विचारपूर्वक पढ़ने से इस बात की पुष्टि नहीं होती। इसी से आज श्रेष्ठ विद्वान् वेदों के रचयिता कौन हैं, इसे लेकर वाद-विवाद नहीं करते। वे इसकी जरूरत ही नहीं समझते। वे जानते हैं कि वेद मनुष्यकृत हैं। लेकिन सर्वसाधारण ऐसा नहीं मानते। इस कारण जो भी वेदों के ईश्वरकृत होने में शंका करता है, उसे वे घोर पापी और घोर अधर्मी समझते हैं। इसके बाद भी यदि हम सर्वसाधारण के विश्वास के विरुद्ध लिख रहे हैं, तो उसका कारण है—"सत्ये नास्ति भयं क्वचित्।" इस प्रसंग में द्विवेदीजी ने श्री मैथिलीशरण गुप्त को भी एक पत्र में लिखा था: "बुद्ध को आप ही ने अवतार माना है। वेदों को भी आप ही ने ईश्वरकृत मान रक्खा है। ईश्वर के यहां से इन विषयों में कोई दस्तावेज हम लोगों के पास नहीं।"

जिस तरह द्विवेदीजी ने वेदों को अपौरुषेय मानने से इनकार किया, उसी तरह स्मृतियों और संहिताओं में निर्धारित किए गए नियमों को देशकाल निरपेक्ष मानने से। स्मृति-ग्रंथों के विषय में उन्होंने कहा है कि जितने प्रकार की विधि निर्धारित होती है, देश, काल, जन-समाज की अवस्था और उसके कल्याण का विचार कर निर्धारित होती है। इसी तरह उन्होंने यह भी कहा है कि हमारे मनु और याज्ञवल्क्य ने जो संहिता बनाई है, वह भी समाज की आवश्यकतानुसार ही।

इन ग्रंथों को बने हजारों साल हो गए, अतएव यह सर्वथा असंभव जान पड़ता है कि तत्कालीन अवस्था और आवश्यकतानुसार जो समस्त नियम उस समय स्थिर किए गए थे वे अब इस समय भी आवश्यक समझे जाएं। कारण यह है कि काल और देशपरत्व के कारण सारे नियम सदैव उपयोगी नहीं हो सकते। इस तरह द्विवेदीजी ने वेद, स्मृति, संहिता आदि के शाश्वत माने जाने का तर्कपूर्ण ढंग से और बड़े स्पष्ट शब्दों में विरोध किया। उनका यह प्रतिपादन काफी क्रांतिकारी है कि सारे नियम देश और काल-सापेक्ष हैं, इसलिए सर्वत्र और सर्वदा उपयोगी नहीं हो सकते।

द्विवेदीजी ज्ञान के उपासक थे, लेकिन उनका 'ज्ञान' मुक्ति का पर्याय नहीं था। अपने 'निरीश्वरवाद' शीर्षक लेख में ही, जिसका हवाला ऊपर दिया गया है, उन्होंने कहा है कि हम लोगों ने ज्ञान को 'मुक्ति' मान रखा है, जबकि अंग्रेज़ उसे शक्ति मानते हैं। ज्ञान प्राप्त करके हम लोग संसार को दुःखमय समझने लगते हैं और उससे विरक्त हो जाते हैं। अंग्रेज़ इसी ज्ञान की मदद से नाना प्रकार के यंत्र तैयार करते हैं, नये-नये वैज्ञानिक सत्यों का पता लगाते हैं, नयी-नयी विद्याओं और कला-कौशल को जन्म देते हैं तथा हमारे विरक्त देशवासियों को पराजित कर उन पर शासन करते हैं।

ज्ञान के प्रति द्विवेदीजी के मन में जो आकर्षण था, उसी के परिणामस्वरूप उन्होंने 'सरस्वती' में लगातार पदार्थ विज्ञान, परमाणुवाद, भूगर्भ-विद्या, ज्योतिर्विद्या आदि वैज्ञानिक विषयों पर लेख प्रकाशित किए और इस तरह हिंदीभाषी जनता में वैज्ञानिक दृष्टिकोण के विकास का प्रयास किया। सबसे ज्यादा लेख उन्होंने डार्विन और उसके विकासवाद पर छापे, क्योंकि डार्विन की विचारधारा उस समय की अत्यंत क्रांतिकारी विचारधारा थी। उसने संपूर्ण विश्व में धार्मिक अंध-विश्वासों पर इतनी करारी चोट की थी कि उनकी नींव हिल उठी थी। मई, १९१४ की 'सरस्वती' में श्री विनायक गणेश साठे की विकासवाद पर लिखी गई पुस्तक की समीक्षा करते हुए द्विवेदीजी ने विकासवाद का इन शब्दों में समर्थन किया : "इस सृष्टि में प्राणियों का विकास क्रम-क्रम से हुआ है। नीच कक्षा के प्राणियों से उच्च कक्षा के प्राणियों की उत्पत्ति हुई है। मनुष्य प्राणी की उत्पत्ति और विकास भी उन्हीं नैसर्गिक नियमों के अनुसार हुआ है। वह स्तनपायी प्राणियों की कक्षा का प्राणी है। उसकी और बंदर तथा बनमानुष की बनावट आदि में बहुत ही कम भेद है। इसी से विज्ञानवेत्ताओं की राय है कि मनुष्य भी क्रमप्राप्त विकास का फल है। इसके अखंडनीय प्रमाण वे देते हैं।"

भारतीय स्वाधीनता-आंदोलन का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष भाषा-संबंधी संघर्ष था। भारतीय जनता जैसे स्वराज्य के लिए संघर्ष कर रही थी, वैसे ही स्वभाषा के लिए भी। हिंदी साहित्य सम्मेलन के कानपुर-अधिवेशन (१९२३ ई०) की

स्वागतकारिणी समिति के सभापति की हैसियत से द्विवेदीजी ने जो वक्तव्य दिया था, उसमें उन्होंने इन शब्दों में स्वभाषा का महत्त्व बतलाया था : "स्वराज्य और स्वभाषा का घना संवंध है। यदि भाषा गई तो अपनी जातीयता और अपनी सत्ता भी गई ही समझिए। विना अपनी भाषा की नींव दृढ़ किए स्वराज्य की नींव नहीं दृढ़ हो सकती। जो लोग इस तत्त्व को समझते हैं वे मर मिटने तक अपनी भाषा नहीं छोड़ते। दक्षिणी आफरिका में, अपने अस्तित्व नाश का अवसर आ जाने पर भी, वोअरों ने अपनी भाषा को अपने से अलग न किया, हजार प्रयत्न करने पर भी उन्होंने वहां विदेशी भाषा के पैर नहीं जमने दिए, जिनमें राष्ट्रीयता का भाव जागृत है, जो जातीयता के महत्त्व को समझते हैं, जो एकता के जादू को जानते हैं वे प्राण रहते कभी अपनी भाषा का त्याग नहीं करते, कभी उसके पोषण और परिवर्धन के काम से पीछे नहीं हटते, कभी दूसरों की भाषा को अपनी भाषा नहीं वनाते। जिंदा देशों में यही होता है। मुर्दा और पराधीन देशों की बात मैं नहीं कहता, उन अभागे देशों में तो ठीक इसका विपरीत ही दृश्य देखा जाता है।" विजेता देश विजित देशों पर जबर्दस्ती अपनी भाषा लादते हैं और इस तरह उनके सामाजिक और सांस्कृतिक विकास को अवरुद्ध करते हैं। इस कारण यह आवश्यक है कि स्वराज्य के साथ-साथ देश की प्रगति के लिए स्वभाषा की प्रतिष्ठा तथा उसके उपयोग के लिए भी लड़ाई चलाई जाए। लेकिन भारत-जैसे वहुभाषी देश में भाषा की समस्या एक जटिल समस्या है। द्विवेदीजी ने इस समस्या की जटिलता को समझ कर उसका सही समाधान सुझाया था।

भारत में अनेकानेक जातियां वसती हैं। उनकी अपनी-अपनी भाषा है, उदाहरण के लिए मराठी जाति की भाषा मराठी, गुजराती जाति की भाषा गुजराती, वंगाली जाति की भाषा वंगला, तमिल जाति की भाषा तमिल आदि। हिंदीभाषी जो विशाल जाति है, उसकी भाषा हिंदी है, यह बतलाने की आवश्यकता नहीं है। द्विवेदीजी ने इस देश की सभी जातियों की भाषा को उसका अधिकार दिलाने के लिए संघर्ष किया। उक्त वक्तव्य में ही उन्होंने जातीय भाषाओं के वारे में कहा था : "इन भाषाओं के अंतस्तल तक में इनके प्रांतवासियों तक की जातीयता प्रविष्ट हो गई है। अतएव इनका परित्याग न तो संभव है और न श्रेयस्कर ही है। ये सब बनी रहें, इनकी समुन्नति होती जाय, इनके साहित्य की श्रीसंपन्नता बढ़ती जाय—देश का कल्याण इसी में है।" वे स्वयं इस देश की छः भाषाएं—हिंदी, उर्दू, संस्कृत, गुजराती, मराठी और वंगला—जानते थे और इनमें पारस्परिक आदान-प्रदान के पक्षपाती थे। उन्होंने 'सरस्वती' के माध्यम से हिंदीभाषी जनता को अन्य भाषाओं की गतिविधि का परिचय देने का बराबर प्रयास किया। श्री रामानंद चटर्जी ने नागरी लिपि में 'चतुर्भाषी' नाम से एक त्रैमासिक पत्रिका निकालने की योजना बनाई थी। उसमें बंगला, मराठी, गुजराती और हिंदी इन

चार भाषाओं में लेख देने की बात थी। द्विवेदीजी ने इस योजना का स्वागत करते हुए 'सरस्वती' में एक टिप्पणी लिखी जिसका समापन उन्होंने इन शब्दों में किया था ...'चतुर्भाषी' एक नयी चीज़ है। वह देश के सर्वव्यापक कल्याण का अंकुर रूप है। अतएव उसके विषय में उदासीनता दिखलाना मानों स्वदेश से शत्रुता करना है।" उनके इस कथन में भारतीय भाषाओं के पारस्परिक संबंध का राष्ट्रीय हित की दृष्टि से जो महत्त्व बतलाया गया है, वह ध्यान देने योग्य है। द्विवेदीजी यहां तक कहते हैं कि जो इस संबंध की कीमत नहीं आंकता, वह देश का शत्रु है। देश से प्रेम करने का मतलब है उसकी विभिन्न भाषाओं में परस्पर आदान-प्रदान और सहयोग कायम करने में मदद देना।

भारत अनेक जातियों के मेल से बना हुआ एक राष्ट्र है। द्विवेदीजी जातियों की भाषा के साथ-साथ राष्ट्र की भाषा के लिए भी चिंता प्रकट करते हैं। १९०३ ई० की 'सरस्वती' के कई अंकों में एक मराठी लेख के आधार पर उन्होंने 'देशव्यापक भाषा' शीर्षक एक लेख लिखा था। उसमें उन्होंने मराठी, गुजराती, बंगला आदि भाषाएं बोलने वाली जातियों से यह आग्रह किया था कि वे हिंदी को देशव्यापी भाषा के रूप में अपनाएं। उसमें उन्होंने इसका भी खुलासा कर दिया था कि हिंदी को इस रूप में अपनाने का मतलब यह नहीं है कि वे अपनी भाषाएं भूल जाएं और उनमें साहित्य-रचना न करें। हिंदी जाति-विशेष की भाषा है, लेकिन सामाजिक-आर्थिक कारणों से इस भाषा का ऐसा प्रचार हुआ है कि इसी में राष्ट्रभाषा अथवा संपर्क भाषा बनने की क्षमता विकसित हो सकी है। इसी कारण द्विवेदीजी ने हिंदी को राष्ट्रभाषा का पद दिलाने की चेष्टा की, किसी पक्षपात के कारण नहीं। प्रांतों में अंग्रेज़ी की जगह प्रांतीय भाषाओं का व्यवहार किया जाए और राष्ट्रीय स्तर पर अंग्रेज़ी की जगह हिंदी का, यह बात उन्होंने महात्मा गांधी से भी पहले कही थी। महात्मा गांधी का भारतीय राजनीति में जिस समय प्रवेश हुआ, उस समय तक वे देश की भाषा समस्या का वैज्ञानिक और जनवादी समाधान सुझा चुके थे। कानपुर अधिवेशन वाले वक्तव्य में उन्होंने इस रूप में अपनी पूर्वमान्यता ही दुहराई थी: "(प्रांतीय भाषाओं के) साथ ही एक ऐसी भाषा की आवश्यकता है, और बहुत बड़ी आवश्यकता है, जिसकी सहायता से सभी प्रांतों के वासी अपने विचार अन्य प्रांतवासियों पर प्रकट कर सकें।"

हिंदी की स्थिति अन्य भारतीय भाषाओं की तुलना में बदतर थी। अन्य प्रांतों में वहां की भाषाओं का साहित्य विश्वविद्यालयों में पढ़ाया जाता था, पर हिंदीभाषी प्रदेश में हिंदी को उच्च शिक्षा का विषय नहीं बनाया गया था। यहां तक कि हिंदीतर प्रांतों में हिंदी को विश्वविद्यालयों में मान्यता मिल चुकी थी, पर हिंदीभाषी प्रदेश में उसे इस योग्य नहीं समझा गया था। १८५७ के विद्रोह का

केंद्र हिंदीभाषी प्रदेश ही था। इससे अंग्रेजी सरकार यह समझ गई कि उसके लिए सबसे खतरनाक हिंदीभाषी प्रदेश ही है। इसका परिणाम यह हुआ कि उसने उसको दबाए रखने के लिए तरह-तरह की नीतियां अपनाईं। उन्हीं नीतियों में से एक नीति थी उसकी जातीय भाषा को उसके अधिकार से वंचित रखना। इसके लिए उसे उच्च शिक्षा का विषय बनने से तो रोका ही, जहां तक हो सका इसके लिए भी कोशिश की कि वह स्कूलों की पढ़ाई में भी माध्यम के रूप में प्रयुक्त न हो। हिंदीभाषी प्रदेश चूंकि पिछड़ा हुआ था, इसलिए यहां के ज़मींदार और ताल्लुकेदार अधिक अंग्रेज़परस्त थे। उन्हें अपनी भाषा से वैसा प्रेम नहीं था। इस कारण भी हिंदीभाषी प्रदेश में स्थित विश्वविद्यालयों में हिंदी का प्रवेश देर से हुआ। जिन विश्वविद्यालयों पर उनका प्रभाव था, उनसे हिंदी को बाहर रखने के लिए उन्होंने भरसक प्रयास किया। यह भी एक कारण है, जिससे हिंदी के विकास को क्षति पहुंची। इस तरह हिंदी अपने मार्ग की सबसे बड़ी बाधा अंग्रेज़ी से जूझते हुए आगे बढ़ी। इस संघर्ष के सूत्रधारों में द्विवेदीजी प्रमुख थे।

अंग्रेज़ी के साथ-साथ हिंदी का अंतर्विरोध भारतीय भाषाओं और उपभाषाओं से भी था। अंग्रेज़ हिंदी और उर्दू के विवाद को सांप्रदायिक रूप देकर हिंदीभाषी जाति की एकता को तोड़ने के लिए षड्यंत्र रचते रहते थे। द्विवेदीजी ने इस बात को समझकर हिंदी और उर्दू की मूल एकता पर जोर दिया था और 'देशव्यापक भाषा' शीर्षक अपने लेख में ही लिखा था कि संयुक्त प्रांत, मध्यप्रदेश, मध्यभारत, राजपूताना और बिहार की भाषा हिंदी है। पंजाब में जो भाषा बोली जाती है वह भी हिंदी ही है, क्योंकि उर्दू कोई भिन्न भाषा नहीं। वह हिंदी की ही एक शाखा है। हिंदी और उर्दू का व्याकरण एक ही है। फारसी और अरबी के शब्दों की प्रचुरता होने से उर्दू उन लोगों की समझ में अच्छी तरह नहीं आ सकती, जिन्हें इन दो भाषाओं के शब्दों का थोड़ा-बहुत ज्ञान नहीं है। उर्दू की यदि यह कठिनता दूर कर दी जाए तो उसमें और बोलचाल की साधारण हिंदी में कुछ भी अंतर न रहे। इसलिए उर्दू को हिंदी ही समझना चाहिए। द्विवेदीजी ने यह बात हिंदी से उर्दू को दबाने के लिए नहीं, बल्कि हिंदीभाषी जाति की एकता को दृढ़ करने के लिए लिखी थी।

मुसलमानों और उर्दू के प्रति द्विवेदीजी के मन में प्रगाढ़ प्रेम था, यह उनकी बहुत-सी बातों से स्पष्ट है। कानपुर वाले वक्तव्य में ही उन्होंने कहा था कि उर्दू जिस फारसी लिपि में लिखी जाती है, वह सदोष है, पर उस कारण हमें उसका उपहास नहीं करना चाहिए और घृणा तो कभी उससे करनी ही नहीं चाहिए। हिंदू और मुसलमान इस देश रूपी शरीर की आंखें हैं। एक आंख के विकृत होने से क्या कोई उसे निकाल बाहर करता है ? इसमें संदेह नहीं कि हिंदी ही हमारी जातीय भाषा और देवनागरी ही हमारी जातीय लिपि है अथवा हो सकती है।

दिन पर दिन इनके विस्तार की वृद्धि देखकर वे लोग भी इनकी उपयोगिता और देशव्यापक होने की योग्यता के कायल होते जा रहे हैं, जिनका संबंध इनसे बहुत दूर का है अथवा है ही नहीं। जहां तक हो सके, हमें अपने मुसलमान भाइयों की भाषा और लिपि भी सीखनी चाहिए। जब हम हजारों कोस दूर रहनेवाले विदेशियों की—अंग्रेज़, फ्रेंच और जर्मन लोगों की—भाषाएं सीखते हैं, तब कोई कारण नहीं कि हम उनकी भाषा और लिपि न सीखें, जो हमारे पड़ोसी हैं, जिनका और हमारा भाग्य एक ही सूत्र में बंधा हुआ है और जिनका और हमारा चोली-दामन का साथ है।

हिंदीभाषी क्षेत्र बहुत ही विशाल है। इसमें अनेकानेक जनपद हैं, जिनकी अपनी बोलियां हैं। इन्हीं बोलियों में से एक खड़ी बोली ने व्यापारिक पूंजीवाद के प्रसार के साथ आधुनिक हिंदी या उर्दू का रूप प्राप्त किया। यह बोली के भाषा बनने की प्रक्रिया है, जिसमें क्षेत्र-विशेष में बोली जाने वाली खड़ी बोली आज के विशाल हिंदी-क्षेत्र की भाषा बन गई। इस भाषा ने विभिन्न जनपदों का अलगाव दूर कर हिंदी जाति के गठन में महान् भूमिका अदा की। इससे स्वभावतः जनपदीय बोलियां गौण होती चली गईं। द्विवेदीजी इस बात को समझ रहे थे, इसलिए उन्होंने अंग्रेज़ी ही नहीं, ब्रजभाषा की तुलना में भी खड़ी बोली को महत्त्व दिया और उसे साहित्य में प्रतिष्ठित करने का आंदोलन चलाया, जिसमें उन्हें पूर्ण सफलता मिली। भारतेंदु-युग में गद्य-साहित्य की रचना तो खड़ी बोली में होने लगी थी, लेकिन कविता में ब्रजभाषा ही चलती थी। द्विवेदीजी ने इस बेढंगी स्थिति को समाप्त किया। उन्होंने कविता को सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन की समस्याओं से जोड़ने पर बल दिया। ज्यों-ज्यों हिंदी की परंपरागत कविता उक्त समस्याओं से जुड़ती गई, उसका माध्यम बदलकर ब्रजभाषा से खड़ी बोली होता गया। इसमें संपादक और आलोचक दोनों ही रूपों में द्विवेदीजी का कार्य युगांतकारी है।

ग्रियर्सन ने साम्राज्यवादी भेदनीति का परिचय देते हुए हिंदीभाषी क्षेत्र को विभाजित करने का षड्यंत्र किया था। उन्होंने मैथिली, मगही और भोजपुरी को 'बिहारी भाषा' कहा था और उन्हें बंगला, उड़िया और असमिया के अधिक निकट बतलाकर उनके क्षेत्र को हिंदी से अलग कर देने का प्रयास किया था, जबकि वे हिंदी प्रदेश की बोलियों के रूप में व्यवहृत होती हैं। द्विवेदीजी कुछ दिन बाद इस भेद-नीति को समझ गए थे और उन्होंने जनवरी, १९१७ की 'सरस्वती' में ग्रियर्सन का विरोध यह कहकर किया था कि डॉक्टर ग्रियर्सन की राय है कि मागधी प्राकृत से चार भाषाएं उत्पन्न हुईं—बिहारी, बंगला, उड़िया और असमिया। वे बिहार की भाषा को हिंदी नहीं कहते, बिहारी कहते हैं। कारण यह कि उसकी प्रकृति हिंदी से भिन्न है, वह बंगला से अधिक मिलती है, हिंदी से

कम। यह दुःख की बात है। बिहारवालों की भाषा की उत्पत्ति चाहे जिस भाषा से हो और उसकी प्रकृति चाहे जैसी हो देखने की बात यह है कि इस समय के शिक्षित और अधिकांश अशिक्षित बोलते कैसी भाषा हैं। यदि उनकी वर्तमान साधु अथवा ग्राम्य भाषा अधिकांश में हिंदी से मिलती हो तो बंगला बोलने-वालों को कोई अधिकार नहीं है कि वे उसे अपनी भाषा की तरफ खींचने की चेष्टा करें।

हिंदीभाषी प्रदेश की एकता का प्रश्न मात्र जातीय प्रश्न नहीं है। यह एक राष्ट्रीय प्रश्न है, क्योंकि इसकी एकता का निर्माण करनेवाली हिंदी भाषा देश की विभिन्न जातीय भाषाओं को मिलानेवाली और उनके बोलनेवालों के बीच संपर्क स्थापित करनेवाली भाषा भी है। हिंदी भाषा के जातीय रूप को छिन्न-भिन्न करने का परिणाम यह होगा कि राष्ट्रीय एकता का माध्यम ही नष्ट हो जाएगा। द्विवेदीजी ने हिंदी के जातीय रूप को छिन्न-भिन्न करने का विरोध कर राष्ट्रीय एकता की रक्षा करने का प्रयास किया। वे जैसे जातीय भाषा और राष्ट्रभाषा के संबंध को ठीक से समझते थे, वैसे ही जातीय भाषा और जनपदीय बोलियों के संबंध को भी। उन्होंने 'सरस्वती' में 'भाषा और व्याकरण' शीर्षक से जो लेख लिखा था, उसमें जनपदीय बोलियों के बारे में कहा था कि उनके शब्द-समूह और भावव्यंजक शक्ति का विस्तार साहित्य की भाषा की अपेक्षा भी अधिक है। वे साहित्य की भाषा की सहायक और उसके कलेवर की पोषक हैं, उसके प्रभुत्व और विस्तार को कम करने वाली नहीं। इससे स्पष्ट है कि द्विवेदीजी की दृष्टि में जातीय भाषा और जनपदीय बोलियों में कोई आंतरिक विरोध नहीं था।

इस निबंध के आरंभ में द्विवेदीजी के भाषा-संशोधन-संबंधी कार्य की चर्चा की गई है। इस संबंध में यह ज्ञातव्य है कि वे नियामक व्याकरण के नहीं, बल्कि विवरणात्मक व्याकरण के पक्षधर थे। तात्पर्य यह है कि वे उस व्याकरण के आग्रही नहीं थे, जो भाषा के प्रयोगों की साधुता और असाधुता का निर्णय किन्हीं नियमों द्वारा करता है। वे यह मानते थे कि चूंकि भाषा परिवर्तनशील है, इसलिए उसके नियम भी शाश्वत नहीं हो सकते। उसमें जब कोई अपप्रयोग भी स्वीकृति प्राप्त कर लेता है, तो वह साधु प्रयोग हो जाता है। उन्होंने कानपुरवाले वक्तव्य में यह भी कहा था : "व्याकरण का काम सिर्फ इतना ही है कि लोग जैसी भाषा बोलें या लिखें उसकी वह संगति मात्र लगा दे, उसके नियम मात्र वह बता दे। उसे यह कहने का कोई अधिकार नहीं कि तुम इसी तरह बोलो, या इसी तरह लिखो, या इस शब्द का प्रयोग इसी लिंग में करो। इस तरह का विधान करनेवाला व्याकरण कौन है? उसे तो शिष्ट लेखकों और वक्ताओं की आज्ञा के पालन मात्र का काम सौंपा गया है।" उनके इस कथन का अंतिम वाक्य ध्यातव्य है। उन्होंने

हिंदी भाषा को, जिसमें फैलाव के कारण बहुत अस्थिरता और अव्यवस्था थी, स्वच्छंद नहीं छोड़ दिया, बल्कि उसे परिनिष्ठित रूप प्रदान किया। यह काम उन्होंने व्याकरण के किन्हीं पूर्व निर्धारित नियमों का अनुसरण करके नहीं, बल्कि शिष्टजनों के प्रयोग को प्रतिमान मानकर किया। हिंदी को परिनिष्ठित रूप प्रदान करने के इस क्रम में उन्होंने न केवल दूसरे लेखकों की भाषा संवारी, बल्कि अपनी भाषा को भी पहले से अधिक परिष्कृत और विकसित किया। इस तरह भाषा संशोधन के क्षेत्र में भी उन्होंने नये और वैज्ञानिक मार्ग का अनुसरण किया।

३. साहित्य-साधना

जैसा कि कहा जा चुका है, द्विवेदीजी ने साहित्य-साधना काव्य-रचना से आरंभ की। ये उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम साल थे। मराठी आदि आधुनिक भारतीय भाषाओं में साहित्य की प्रगति देखकर वे हिंदी-साहित्य को समृद्ध करने की ओर प्रवृत्त हुए। उस समय हिंदी में भारतेंदु-युग चल रहा था। भक्ति और श्रृंगार की प्रवृत्तियां अभी निःशेष नहीं हुई थीं। काव्य-रचना का माध्यम ब्रजभाषा ही थी। द्विवेदीजी संस्कृत के अच्छे जानकार थे। उन्होंने सर्वप्रथम संस्कृत के महिम्नस्तोत्रम् का ब्रजभाषा में अनुवाद किया। छंद उन्होंने ज़्यादातर गणात्मक ही रखे। यह संस्कृत का ही नहीं, मराठी का भी प्रभाव था। मराठी कविता में गणात्मक छंद काफी प्रचलन में थे। यह देखकर द्विवेदीजी को लगा कि यह कविता की उन्नति का मार्ग है। गणात्मक छंद चूंकि हिंदी की प्रकृति के अनुकूल नहीं है, इसलिए उन्होंने महिम्नस्तोत्रम् का जो अनुवाद किया, उसमें न छंद का प्रवाह आ सका और न ब्रजभाषा की सुघराई ही। उनके गणात्मक छंदों से उनके मात्रिक छंदों की तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके मात्रिक छंदों में उपर्युक्त दोनों ही गुण कमोवेश दिखलाई पड़ते हैं।

महिम्नस्तोत्रम् के बाद द्विवेदीजी ने ब्रजभाषा में ही भर्तृहरि के वैराग्यशतक तथा श्रृंगारशतक का अनुवाद किया। इस बार उन्होंने हिंदी के दोहा छंद को लिया। इस छंद में उन्होंने जो अनुवाद किया उसमें भरपूर प्रवाह है। उसमें भाषा का भी प्रांजल रूप देखने को मिलता है। वैराग्यशतक का अनुवाद उन्होंने 'विनय-विनोद' के नाम से किया और श्रृंगारशतक का अनुवाद 'स्नेहमाला' के नाम से। श्रृंगारशतक का अनुवाद उन्होंने जिस साल किया, उसी साल ब्रजभाषा में ही उन्होंने 'विरह-वाटिका' के नाम से जयदेवकृत गीतगोविंद का भी अनुवाद किया। यह अनुवाद भी मुख्यतः गणात्मक छंदों में ही किया। बीच-बीच में दोहा और हरिगीतिका छंद रखे। जहां-जहां ये छंद आए हैं, वहां-वहां भाषा स्वाभाविक और प्रवाह अनवरुद्ध मालूम पड़ता है, वर्ना यह अनुवाद भी हमें महिम्नस्तोत्रम् के अनुवाद की याद दिलाता है। संस्कृत के इन काव्य-ग्रंथों की तरह ही उन्हें पंडित-

राज जगन्नाथ की गंगालहरी भी विशेष प्रिय थी। उन्होंने इसका अनुवाद सवैयों में किया। यह अनुवाद छंद और भाषा दोनों ही दृष्टियों से इतना सधा हुआ है कि इसका रचयिता एक सिद्ध कवि मालूम पड़ता है। इसी के आस-पास द्विवेदीजी ने 'ऋतुतरंगिणी' के नाम से कालिदास के ऋतुसंहार की छाया लेकर एक काव्य-ग्रंथ बनाया। यह काव्य-ग्रंथ आद्योपांत गणात्मक छंद में रचित है, इसलिए विषय रमणीय होने पर भी अनुवाद की दृष्टि से यह गंगालहरी के अनुवाद की समता न कर सका। इसकी भाषा भी ब्रजभाषा ही है। ब्रजभाषा और गणात्मक छंद में ही उन्होंने एक मौलिक काव्य-ग्रंथ भी रचा—'देवीस्तुतिशतक'। यह काव्य-ग्रंथ ओजपूर्ण भाषा में रचा गया है, पर छंद गणात्मक होने के कारण इसमें भी कविता के नैसर्गिक गुणों की कमी मालूम पड़ती है।

उन्नीसवीं शताब्दी जब समाप्त हो रही थी, ब्रजभाषा और खड़ी बोली के संघर्ष में खड़ी बोली की विजय के लक्षण दिखलाई पड़ने लगे थे। भारतेंदु-युग में साहित्य-रचना के माध्यम को लेकर यह असंगति दिखलाई पड़ी थी कि गद्य-साहित्य तो खड़ी बोली में रचा जाता था, लेकिन कविता के लिए ब्रजभाषा ही प्रयोग में लाई जा रही थी। यह स्थिति ज़्यादा दिन तक नहीं चल सकती थी। व्यवहार की भाषा से कविता की भाषा को अलग रखना संभव न था। अंततः खड़ी बोली कविता में ब्रजभाषा को अपदस्थ करने लगी। द्विवेदीजी के भीतर भी यह चेतना जगी। उन्होंने धीरे-धीरे ब्रजभाषा को छोड़कर खड़ी बोली को ही अपनी काव्य-रचना का माध्यम बनाना शुरू किया। खड़ी बोली में उन्होंने जिस काव्यग्रंथ की रचना की, वह है—'कुमारसंभवसार'। इसमें उन्होने मात्रिक छंदों में कालिदासकृत कुमारसंभव के पांच सर्गों का अनुवाद प्रस्तुत किया। तृतीय और पंचम सर्ग का तो उन्होंने पूरा अनुवाद किया, पर प्रथम, द्वितीय और चतुर्थ सर्ग का उन्होंने आशय मात्र लिया। इस अनुवाद के पीछे यह प्रेरणा भी काम कर रही थी कि कालिदास के हिंदी अनुवादकों को दिखलाया जाए कि खड़ी बोली में भी कालिदास की कृतियों का सुंदर ढंग से अनुवाद किया जा सकता है। द्विवेदीजीकृत यह अनुवाद किसी हद तक सफल अनुवाद है। प्रमाणस्वरूप उसका एक छंद देखा जा सकता है :

> गेरू से लिख भोजपत्र पर जहाँ अनंग-देव-संदेश,
> विद्याधरसुंदरी भेजती हैं पिय पास विशेष विशेष।
> जहाँ रात में विपिन निवासी, ओषधियां रख दीप समान,
> करते हैं, उनके प्रकाश में, केलिकला के विविध विधान॥

१८९५ से लेकर १९०२ ई० तक द्विवेदीजी ने संस्कृत, ब्रजभाषा और खड़ी बोली इन तीनों ही भाषाओं में अनेक स्फुट कविताएं लिखीं। संस्कृत में उन्होंने कभी देवी-देवताओं की स्तुति की, कभी प्रकृति-वर्णन किया और कभी सामाजिक

अथवा धार्मिक रूढ़ियों की तीखी और व्यंग्यपूर्ण आलोचना की। संस्कृत-कविता में उन्होंने बहुत ही सधी हुई भाषा का प्रयोग किया। उनकी 'प्रभात-वर्णनम्' शीर्षक कविता देखकर ऐसा लगता है, जैसे वह संस्कृत के किसी श्रेण्य कवि की रचना हो। अपनी ब्रजभाषा की कविताओं में उन्होंने जहां मात्रिक छंद का प्रयोग किया है और देश-दशा के वर्णन को विषय बनाया है, वहां बहुत ही सरल और मार्मिक कविता लिखी है। उदाहरण के लिए उनकी 'भारत-दुर्भिक्ष' शीर्षक कविता के निम्नलिखित छंद देखे जा सकते हैं :

गली गली कंगाल पेट पर हाथ दोउ धरि धावैं।
अन्न-अन्न पानी पानी कहि शोर प्रचंड मचावैं।
बालक, युवा, जरठ, नारी, नर, भूख भूखि कहि गावैं;
अविरल अश्रुधार आँखिन ते बारंबार बहावैं॥

मातु पिता सुत सुता सकल मिलि जहँ बहु कीन्ह कलोलैं,
प्रीति समेत परस्पर प्रतिदिन मृदुल वचन जहँ बोलैं।
प्रातकाल उठि नवल कामिनी द्वार जासु जगि खोलैं,
रुद्धभवन तहँ घूक कूक करि प्रमुदित इत-उत डोलैं॥

कहने की आवश्यकता नहीं कि ऐसी कविताओं में द्विवेदीजी ने भारतेंदु युग की कविता की उस धारा से अपना संबंध जोड़ा है, जिसमें अकाल, महामारी और टैक्स के बोझ से पीड़ित जनता की दुर्दशा को मुख्य विषय के रूप में ग्रहण किया जाता था। भारतेंदु-युग अपनी जिंदादिली और विनोदप्रियता के लिए भी प्रसिद्ध रहा है। द्विवेदीजी ने कुछ कविताएं हास्य-व्यंग्य वाली भी लिखीं। उनकी ऐसी कविताएं प्रायः खड़ी बोली में लिखीं गई हैं। उनमें से उनका 'गर्दभ-काव्य' विशेष प्रसिद्ध है। इसमें गधा कहता है :

बड़े बड़े कवि, पंडित, ज्ञानी, जग जिनसे उजियारा है,
तेऊ लहें उपाधि हमारी जब तब; अस सत्कारा है।

उनकी दूसरी ऐसी कविता है 'विधि-विडंबना', जिसमें कवि ने विधि की एक विडंबना यह बतलाई है :

शुद्धाशुद्ध शब्द तक का ही है जिनको नहीं विचार;
लिखवाता है उनके कर से नए-नए अखबार॥

अंत में उसने विधाता को यह सलाह दी है :

विधे! मनोज्ञ-मातृ-भाषा के द्रोही पुरुष बनाना छोड़,
राम राम सुमिरन कर बुड्ढे और काम से अब मुख मोड़।

इसी तरह की उनकी एक और कविता है—'ग्रंथकार-लक्षण'। इसमें उन्होंने कहा है :

ए, बी, सी, डी का भी ज्ञान
जिनको अच्छी भाँति हुआ न,
अँगरेजी उद्धृत करने में किंतु न जो शर्माते हैं।
ऐसे विद्या-बुद्धि निधान
जिनका बड़ा मान-सम्मान,
निश्चय वे ही परम प्रतिष्ठित ग्रंथकार कहलाते हैं।

इस अवधि की द्विवेदीजी की सारी कविताएं 'काव्य-मंजूषा' में संकलित हुई हैं। द्विवेदीजी की पूर्ववर्ती यानी उनके द्वारा 'सरस्वती' का संपादन-भार ग्रहण किए जाने के पहले तक की कविताएं मुख्यतः भक्ति और शृंगार की, अथवा कहें कि भोग और वैराग्य की कविताएं हैं। ये कविताएं उन्होंने संस्कृत में लिखी हैं, या ब्रजभाषा में। उनके मन में भोग और वैराग्य को लेकर एक संघर्ष-सा छिड़ा रहता है। यह संघर्ष तब तक समाप्त नहीं होता, जब तक कि वे अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम नहीं बदलते। खड़ी बोली नये युग की भाषा थी, जो बड़ी तेजी से जीवन के सभी क्षेत्रों में फैलती जा रही थी। द्विवेदीजी ने बहुत जल्दी इस बात को समझ लिया और खड़ी बोली में काव्य-रचना करने लगे। इसके साथ ही उनका संघर्ष समाप्त हो गया और उन्होंने अपनी सामाजिक और राष्ट्रीय चेतना में अपने वैराग्य और शृंगार इन दोनों भावों को डुबो दिया। उनके खड़ी बोली में काव्य-रचना करने का यह प्रभाव हुआ कि अब कभी वे ब्रजभाषा में भी लिखते थे, तो उसका भी विषय समाज और देश ही होता था, भक्ति अथवा शृंगार नहीं।

१९०० ई० के बाद द्विवेदीजी ने अंतिम रूप से खड़ी बोली को अपनी अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में स्वीकार किया। अब कभी उन्होंने ब्रजभाषा में कविता लिखी भी, तो अपवाद-स्वरूप। इस काल में उन्होंने अनुवाद भी कम किया, ज़्यादातर मौलिक कविताएं ही लिखीं। एक बात यह देखने में आई कि उन्होंने राजा रविवर्मा के चित्रों पर अनेक कविताएं बनाईं। द्विवेदीजी की इस नयी कविता का विषय कभी प्रकृति हुई और कभी देश और समाज की समस्याएं। कभी-कभी उन्होंने हास्य और व्यंग्य की भी सृष्टि की।

द्विवेदीजी की 'कोकिल' और 'वसंत' शीर्षक कविताएं उनके प्रकृति-प्रेम की सूचक हैं। इनमें उन्होंने बहुत ही सरल रूप में प्रकृति के सौंदर्य का वर्णन किया है। 'कोकिल' शीर्षक कविता तो अपनी सरलता के कारण बाल-कविता प्रतीत होती है। उदाहरण के लिए उसकी ये पंक्तियां देखी जा सकती हैं : "सम्मुख आम-वृक्ष के ऊपर, देखो वह आती है उड़कर। बोलो मत; उँगली न उठाओ; आओ

वहीं चलैं सब, आओ ।। मीठी तान कान में ऐसे, आती हैं वंशीधुनि जैसे। सिर ऊँचा कर मुख खोलैं है, कैसी मृदु बानी बोलैं है।"

समाज और देश तथा कृषि और उद्योग के संबंध में द्विवेदीजी के विचारों से हम परिचित हो चुके हैं। उन्होंने देशी उद्योग-धंधे समाप्त हो जाने के कारण का विश्लेषण किया था और उसके लिए अंग्रेजी हुकूमत को जिम्मेवार ठहराते हुए उसके शोषणकारी रूप को अनावृत कर दिया था। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में जब इस देश में फिर से उद्योग-धंधे शुरू होने लगे, तो उन्होंने उसका स्वागत किया और स्वदेशी की भावना का प्रचार करने की हरचंद कोशिश की। 'स्वदेशी वस्त्र का स्वीकार' शीर्षक उनकी कविता हमें उनकी इसी कोशिश की याद दिलाती है। इस कविता में उन्होंने कहा है :

विदेशी वस्त्र क्यों हम ले रहे हैं ?
वृथा धन देश का क्यों दे रहे हैं ?
न सूझे है अरे भारत भिखारी !
गई है हाय तेरी बुद्धि मारी !
हजारों लोग भूखों मर रहे हैं,
पड़े वे आज या कल कर रहे हैं।
इधर तू मंजु मलमल ढूँढ़ता है !
न इससे और बढ़कर मूढ़ता है ।।

द्विवेदीजी ने अनेक कविताओं में अपने देश-प्रेम का परिचय दिया और स्वाधीनता की आकांक्षा की अभिव्यक्ति की। 'वंदे मातरम् !' शीर्षक कविता में उन्होंने ऐसी पंक्तियों में भारत माता की स्तुति की है :

"मलयानिल मृदु मृदु बहती है शीतलता अधिकाती है,
सुखदायिनि वरदायिनि तेरी मूर्ति मुझे अति भाती है।"

बाद में उन्होंने 'भारतवर्ष' और 'मेरे प्यारे हिंदुस्तान' शीर्षक दो कविताएं लिखीं। इन दोनों ही कविताओं में उन्होंने अपने देश की महिमा का वर्णन किया और उसकी वर्त्तमान स्थिति पर गहरा दुःख प्रकट किया। पहली कविता में उन्होंने इन शब्दों में एकताबद्ध होने की आकांक्षा प्रकट की है : 'हिंदू मुसलमान ईसाई, यश गावें सब भाई भाई, सबके सब तेरे शैदाई, फूलो-फलो स्वदेश ।।" दूसरी कविता में उन्होंने देश को इन शब्दों में संबोधित किया है : "एक नहीं हम कई करोड़, कर उद्योग काहिली छोड़, सत्पथ से तू मुँह मत मोड़, आँख खोल बलवीर्य-निधान ।।" इससे उनकी राष्ट्रीय भावना के खरेपन का अच्छी तरह से पता चल जाता है।

जुलाई, १९०६ की 'सरस्वती' में द्विवेदीजी की एक कविता प्रकाशित हुई थी—'कवि और स्वतंत्रता।' इसमें उन्होंने स्वतंत्रता के बारे में जो कुछ कहा है, वह बहुत महत्त्वपूर्ण है। कवि प्रश्न करता है—"हे स्वतंत्रते ! तुम्हारा/ जन्म कहाँ हुआ है ?" स्वतंत्रता उत्तर देती है : "शूर देशहित तजते जहाँ/ प्राण, जन्म मेरा है वहाँ।" कवि पुनः प्रश्न करता है—"तुम्हारी शक्ति का मूल कहाँ है ?" स्वतंत्रता इसका यह उत्तर देती है कि "प्रजा-पीड़ना होती जहाँ,/ शक्ति मूल मम रहता वहाँ", अर्थात् स्वतंत्रता की भावना को जनता के उत्पीड़न से बल प्राप्त होता है। कवि की जिज्ञासा शांत नहीं होती। वह इस बार पूछता है—"तुम निर्भयतापूर्वक स्थायी रूप से कहाँ रहती हो ?" स्वतंत्रता उसके इस प्रश्न का बहुत ही अर्थपूर्ण उत्तर देती है। वह कहती है कि जिस समाज में भेद और तज्जनित विरोध नहीं होता, मैं निर्भयतापूर्वक स्थायी रूप से वहीं रहती हूं : "जहां न भेद-विरोध-विकास,/ वहाँ निडर मैं करती वास।" कवि की अंतिम जिज्ञासा यह होती है—"तुम्हारी कृतार्थता किसमें है ?" स्वतंत्रता उसे बतलाती है कि "शांति राज्य जब पाऊँगी मैं/तब कृतार्थ हो जाऊँगी मैं।" इस कविता से स्वतंत्रता के संबंध में द्विवेदीजी की वैज्ञानिक धारणा का पता चलता है। स्वतंत्रता की भावना सामाजिक कल्याण के लिए उत्सर्ग की आकांक्षा से उत्पन्न होती है, उसे जनता के उत्पीड़न से शक्ति मिलती है, स्थायी रूप से उसकी प्राप्ति अंतर्विरोधरहित समाज में ही संभव है और स्वतंत्रता का लक्ष्य है शांति, जिसमें मनुष्य का भौतिक और सांस्कृतिक विकास संभव हो पाता है, इन तमाम बातों से वे परिचित थे। इस कविता के द्वारा उन्होंने हिंदीभाषी जनता के मन में स्वतंत्रता की चेतना को समृद्ध और दृढ़ करने का प्रयास किया था। कहा जा चुका है कि भारतीय स्वाधीनता-आंदोलन का एक अंग भाषा संबंधी आदोलन भी था। द्विवेदीजी चूंकि संस्कृति के क्षेत्र में काम कर रहे थे, इसलिए देश में अपनी भाषा की प्रतिष्ठा का प्रश्न उनके लिए एक प्रमुख प्रश्न था। स्वभावतः उन्होंने इस काल में हिंदी के समर्थन और प्रचार के उद्देश्य से कई कविताएं लिखीं।

भक्ति और शृंगार से हटकर द्विवेदीजी देश और समाज के समीप आ गए। भारतीय समाज का एक दलित अंग उसकी नारी है। प्राचीन काल से चली आती सामंती व्यवस्था ने उसे हर प्रकार से उत्पीड़ित किया है। भारतीय पुनर्जागरण ने स्वभावतः नारी-उत्थान को अपने कार्यक्रम में अनिवार्य रूप से शामिल किया। नारी-उत्थान के लिए यह आवश्यक था कि स्त्रियों में शिक्षा का प्रचार किया जाए। १९०५ ई० में काशी में महिला परिषद् का एक जलसा हुआ था। उसमें गाने के लिए द्विवेदीजी ने कई कविताएं बनाई थीं। उनमें से उनकी निम्नलिखित कविता, जिसमें शिक्षा प्राप्ति के लिए स्त्रियों का आह्वान किया गया है,

उद्धरणीय है :

प्यारा है सबसे हमको हिंदुस्तान हमारा
सुख दुःख में हमेशा मेहरबान हमारा—
विद्या नहीं है, बल नहीं है, धन भी नहीं है,
क्या से हुआ है क्या यह गुलिस्तान हमारा ॥१॥
पढ़ती थीं वेद तक जहां महिला सदैव ही,
नारी समूह है वहीं अज्ञान हमारा ॥२॥
विद्या धनों का मूल है पर उस तरफ बहन
अब तक गया नहीं है कभी ध्यान हमारा ॥३॥
आओ करें प्रयत्न आज से लगा के दिल,
बढ़ जाय जिससे ज्ञान और मान हमारा ॥४॥
विद्या बिना स्वदेश की सेवा न हो सके,
विद्या ही से है सब तरह कल्याण हमारा ॥५॥

स्त्रियों का पक्ष लेकर द्विवेदीजी ने 'कान्यकुब्ज-अबला-विलाप' और 'ठहरौनी' जैसी कविताएं लिखीं, जिनमें उन्होंने स्त्रियों की दशा का अत्यंत कारुणिक वर्णन किया और तिलक-दहेज की प्रथा पर कसकर चोट की। पहली कविता में उन्होंने एक स्त्री से यह कहलाया है—"है हमको विश्वास हृदय से आगे वह दिन आवेगा, जो अन्याय हो रहा उसका सब हिसाब चुक जावेगा।" इससे स्पष्ट है कि जनवाद में द्विवेदीजी की दृढ़ आस्था थी और वे अपने देश के जनवादी भविष्य के प्रति आश्वस्त थे। उनकी हास्य-विनोदवाली प्रवृत्ति भी इस बीच बनी रही और वह 'जंबुकी न्याय' और 'टेसू की टांग' जैसी कविताओं में अभिव्यक्त होती रही।

काव्य-भाषा की दृष्टि से द्विवेदीजी की कविताओं में तीन स्थितियां देखने को मिलती हैं। संस्कृत को छोड़ दें तो उन्होंने सर्वप्रथम ब्रजभाषा को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। यह ब्रजभाषा पूरी तरह से दुरुस्त ब्रजभाषा नहीं है। कारण यह है कि उसका इतना अधिक प्रचार हुआ था कि उसका कोई सर्वम्मत रूप नहीं रह गया था। दूसरे द्विवेदीजी जब गणात्मक छंद वाली कविता में ब्रजभाषा का प्रयोग करते थे, तो उसका स्वाभाविक रूप और बिगड़ जाता था। इसीलिए मात्रिक छंद में लिखी गई उनकी ब्रज-भाषा कविता में भाषा का अपेक्षाकृत सुंदर रूप प्रकट हुआ है। ब्रजभाषा छोड़कर जब वे खड़ी बोली में कविता लिखने लगे तो उसमें काफी दिनों तक ब्रजभाषा के शब्द आते रहे। उनकी ऐसी कविताओं की खड़ी बोली को हम खड़ी बोली का आदर्श रूप नहीं मान सकते। धीरे-धीरे यह भाषा द्विवेदीजी के हाथ में बहुत-कुछ परिष्कृत हुई। जब उसमें

अपेक्षित परिष्कार आ गया तो उन्हें उसे सरल बनाने की चिंता हुई। यह चिंता उनके लिए स्वाभाविक थी, क्योंकि उन्होंने खड़ी बोली में काव्य-रचना का आरंभ शौकिया तौर पर नहीं किया था। जब उन्होंने देखा कि खड़ी बोली व्यवहार का व्यापक माध्यम बनती जा रही है, तो उसका उपयोग उन्होंने सामाजिक परिवर्तन और स्वाधीनता की चेतना फैलाने के लिए किया। उसे सरल बनाते हुए वे यहां तक ले गए :

कच्चा घर जो छोटा-सा था,
पक्के महलों से अच्छा था।
पेड़ नीम का दरवाजे पर,
सायबान से था वह बेहतर॥

सब्ज खेत जो लहराते थे,
दिल को वे कैसे भाते थे।
फर्श मखमली जो बिछते हैं,
नहीं मुझे अच्छे लगते हैं॥

वह जंगल की हवा कहां है ?
वह इस दिल की दवा कहां है ?
कहां टहलने का रमना है ?
लहरा रही कहां जमना है ?

उनकी समस्त पूर्ववर्ती और परवर्ती कविताओं का संकलन 'द्विवेदी-काव्यमाला' नामक ग्रंथ में हुआ है।

द्विवेदीजी की कविता हिंदी में विवाद का विषय रही है। अनेक आलोचकों ने कवित्व की दृष्टि से उसे बहुत कम महत्त्व दिया है। स्वयं द्विवेदीजी अपनी कविता के प्रति बहुत अनुदार थे। उनका एक कथन पहले उद्धृत किया जा चुका है, जिसमें उन्होंने अपनी कविता को 'छंदोबद्ध प्रलाप' कहा है। अपने लेख-संग्रह 'रसज्ञ-रंजन' में भी उन्होंने एक स्थल पर कहा है : "कविता करना आप लोग चाहे जैसा समझें हमें तो एक तरह दुस्साध्य ही जान पड़ता है। अज्ञता और अविवेक के कारण कुछ दिन हमने भी तुकबंदी का प्रयास किया था। पर कुछ समझ आते ही हमने अपने को इस काम का अनधिकारी समझा। अतएव उस मार्ग से जाना ही प्रायः बंद कर दिया।" इसी कारण वे अपनी गद्य रचनाएं तो पुस्तकाकार निकलवाते रहे, पर अपनी कविताओं के पुस्तकाकार प्रकाशन की ओर से हमेशा उदासीन रहे। १९२३ ई० में बड़ी मुश्किल से श्री मैथिलीशरण गुप्त उनकी कविताओं का एक किंचित् वृहत् संकलन निकालने के लिए उनकी अनुमति प्राप्त कर सके थे। गुप्तजी ने यह संकलन 'सुमन' नाम से निकाला। उनके सामने भी यह

समस्या थी कि द्विवेदीजी की कविता को कविता माना जाए या नहीं। उन्होंने इस समस्या पर विचार करते हुए पुस्तक की भूमिका में उसमें संकलित कविताओं के बारे में जो एक वाक्य लिखा वह द्विवेदीजी की कविता का निष्पक्ष मूल्यांकन प्रस्तुत करता है। वह वाक्य है: "हिंदी में बोल-चाल की भाषा का जो स्रोत उमड़ रहा है और कवितागत भाव में जो परिवर्तन दिखाई दे रहा है, उसका उद्‌गम और मार्गनिर्देश इन रचनाओं की उपेक्षा नहीं कर सकता।" हिंदी में आगे चलकर खड़ी बोली में देश और समाज को विषय बनाकर जो यथार्थवादी कविता लिखी गई, द्विवेदीजी की कविता उसके लिए पूर्व तैयारी-जैसी है। आधुनिक हिंदी कविता के इतिहास में इस कारण उसका महत्त्व सदा रहेगा।

द्विवेदीजी की रुचि विशिष्ट व्यक्तियों की संक्षिप्त जीवनियां लिखने में भी थी। ये व्यक्ति जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में कार्य करनेवाले व्यक्ति होते थे। चूंकि द्विवेदीजी 'शुद्ध' साहित्यिक न थे, इसलिए वे प्रत्येक दिशा में अपने देश और खासतौर से हिंदीभाषी प्रदेश की तरक्की चाहते थे। इस कारण उन्होंने जहां कहीं जिस किसी व्यक्ति में कोई विशिष्टता देखी, अपने पाठकों को उससे परिचित करना आवश्यक समझा। साहित्य, कला, संपादन, प्रशासन, धर्म, ज्ञान-विज्ञान इन क्षेत्रों से उन्होंने विशिष्ट व्यक्तियों का चुनाव किया और उनके कार्यों तथा उपलब्धियों को सरल और सरस शैली में सामने लाने की चेष्टा की।

द्विवेदीजी ने जिन साहित्यकारों की जीवनियां लिखीं, उनमें से कुछ हैं—बंगला के कवि श्री माइकेल मधुसूदन दत्त, श्री नवीनचंद्र सेन और श्री रवींद्रनाथ ठाकुर, हिंदी के कवि पं० प्रतापनारायण मिश्र, श्री सीतारामशरण भगवान प्रसाद, जो कि 'रूपकला' के नाम से कविता लिखते थे, और श्री लाला बलदेव दास। श्री लाला बलदेव दास हिंदी के कोई जाने-माने कवि नहीं हैं। फिर भी, द्विवेदीजी ने उनकी जीवनी लिखी। इसका कारण यह था कि उनमें नैसर्गिक कवि-प्रतिभा थी। इससे पता चलता है कि जीवनी-लेखन में द्विवेदीजी की दृष्टि शोध-परक भी थी। साहित्यकारों के अलावा उन्होंने विद्वानों का जीवन-परिचय भी लिखा। पं० दुर्गा प्रसाद और पं० सरयूप्रसाद मिश्र का उनके द्वारा लिखा गया जीवन-परिचय उल्लेखनीय है। पं० दुर्गाप्रसाद बहुत बड़े संस्कृतज्ञ और संस्कृत-ग्रंथों के खोजी थे। उन्होंने संस्कृत के अनेक मूल्यवान ग्रंथों को खोज निकाला था, जो कि विलुप्त हो चुके थे। वे काफी दिनों तक 'काव्यमाला' नाम से एक पत्रिका का संपादन करते रहे, जिसमें संस्कृत के प्राचीन और अप्राप्य ग्रंथ छपते थे। पं० सरयूप्रसाद मिश्र संस्कृत के विद्वान् तो थे ही संस्कृत के कवि भी थे। उन्होंने संस्कृत के साथ-साथ हिंदी की भी सेवा की। हिंदी में उन्होंने संस्कृत के कई ग्रंथों का अनुवाद किया और मौलिक पुस्तकें भी लिखीं। द्विवेदीजी ने महामहोपाध्याय सामंत श्री चंद्रशेखर सिंह की भी जीवनी लिखी है, जो कि बहुत बड़े खगोलशास्त्री हो गए हैं।

साहित्यकारों और विद्वानों के अलावा द्विवेदीजी ने कुछ जीवनियां कलाकारों की भी लिखीं। उदाहरण के लिए उनके द्वारा लिखी गई श्री विष्णु दिगंबर पलुसकर और श्री मौलाबख्श की जीवनियां देखी जा सकती हैं। इन कलाकारों ने भारतीय गान-विद्या को पुनर्जीवित और प्रचारित करने का प्रयास किया था। श्री पलुसकर ने उत्तर भारत में संगीत-विद्या के प्रचार के लिए लाहौर में एक गांधर्व विद्यालय की स्थापना की थी। इस विद्यालय का आधा खर्च तो अनुदान और छात्रों से मिलनेवाले शुल्क से निकल आता था, लेकिन आधे खर्च के लिए श्री पलुसकर को विद्यालय के अध्यापकों और कुछ विद्यार्थियों के साथ हर साल बाहर निकलना पड़ता था। विभिन्न शहरों में वे संगीत का आयोजन करते थे, जिससे उन्हें अर्थ-प्राप्ति होती थी। द्विवेदीजी को देश के सांस्कृतिक विकास के लिए किया जानेवाला इस तरह का उद्यम बहुत पसंद था। जैसा समर्पण-भाव उनमें था, वैसा समर्पण-भाव वे दूसरे व्यक्तियों में देखते थे, तो स्वभावतः वे उसकी प्रशंसा करते थे। जिस व्यक्ति में समर्पण-भाव उनसे बढ़कर होता था, उससे वे प्रेरणा लेते थे।

द्विवेदीजी मूलतः लेखक थे, लेकिन परिस्थिति का चक्र कुछ ऐसा चला कि उन्हें अपना जीवन संपादन-कार्य को समर्पित कर देना पड़ा। यह कार्य उन्होंने पूरी निष्ठा और उत्सर्ग-भाव के साथ किया। हिंदीभाषी प्रदेश में चौमुख जागृति फैलाने के लिए उन्होंने कुछ भी उठा नहीं रखा। चूंकि अपनी संपादकीय नीति के चलते उन्हें हिंदी लेखकों के संगठित असहयोग का सामना करना पड़ा, इसलिए उन्हें जान पर खेलकर अपने पत्र के लिए सामग्री तैयार करनी पड़ी। उनका उन्निद्र रोग इसी की देन था, यह हम देख चुके हैं। द्विवेदीजी ने ऐसे अनेक संपादकों की जीवनियां लिखीं, जो राष्ट्रीय चेतना के प्रसार में योग दे रहे थे और अपने स्वतंत्र विचारों के लिए विदेशी हुकूमत से संघर्ष कर रहे थे। श्री ब्रह्मबांधव उपाध्याय, श्री शिशिर कुमार घोष और श्री राय नरेंद्रनाथ सेन बहादुर की जीवनियां लिखकर उन्होंने जैसे अपने लिए और हिंदी के दूसरे संपादकों के लिए आदर्श उपस्थित किए।

श्री उपाध्याय ने यूरोप से लौटने के बाद बंगाल में स्वदेश-प्रेम और स्वदेशी-भावना का प्रसार देखकर 'संध्या' नाम का एक दैनिक पत्र बंगला में निकालना शुरू किया, जो कि अपने रंग-ढंग के कारण काफी लोकप्रिय हुआ। द्विवेदीजी ने उनके बारे में लिखा है—"आपके राजनैतिक विचार बहुत ऊंचे थे—वे कुछ अधिक उग्र थे अथवा यों कहिए कि समयानुकूल न थे। इससे कोई-कोई समझदार आदमी आपसे कई बातों में सहमत न थे। इन्हीं उग्र भावों के वशवर्ती होकर आपने 'संध्या' में कुछ ऐसे लेख निकाले जिन्हें गवर्नमेंट ने विद्रोहजनक समझा। इससे आप पर मुकदमा चलाया गया।" इस मुकदमे में श्री उपाध्याय ने अपने ऊपर लगाए गए आरोपों का जो लिखित उत्तर मजिस्ट्रेट के सामने पेश किया

था, उसका यह अंश उल्लेखनीय है—"इस देश में ईश्वरोद्दिष्ट स्वराज्य-प्रचार के काम में जो अत्यल्प भार मैंने अपने ऊपर लिया है उसे करने में मैं विदेशी लोगों के सामने किसी तरह उत्तरदाता नहीं। कारण यह है कि जो विदेशी जन हम पर शासन करते हैं उनका स्वार्थ हम लोगों की सच्ची जातीयता की उन्नति का बाधक है और बाधक होना ही चाहिए।" श्री सेन कलकत्ते से प्रकाशित होनेवाले प्रसिद्ध दैनिक पत्र 'इंडियन मिरर' के संपादक थे। ये भी स्वदेशी के समर्थक थे। द्विवेदीजी ने इनके बारे में लिखा है—"ये बड़े ही निडर, स्पष्टवादी और स्वतंत्र प्रकृति थे। एकबार प्रजा के कुछ प्रतिनिधियों के साथ ये लाट डफरिन से मिलने गए। लाट साहब को इनका कोई लेख पसंद न आया था। उसके विषय में उन्होंने नरेंद्र बाबू से कैफियत मांगी। यह बात नरेंद्र बाबू को अच्छी न लगी। उन्होंने इसे अपना अपमान समझा अतएव उन्होंने लाट साहब से साफ-साफ कह दिया कि मैं गवर्नमेंट हाउस में आपसे अपमानित होने नहीं आया। अपने पत्र में मैंने जो कुछ लिखा है उसका जवाबदेह मैं हूं। उसकी कैफियत आपको देना मेरा फर्ज नहीं।"

श्री घोष ने 'अमृत बाजार-पत्रिका' कैसे निकाली, इसके बारे में द्विवेदीजी ने लिखा है कि १८५९ ई० में पूर्वी बंगाल में नील की खेती करनेवाले अंग्रेज़ों का उपद्रव आरंभ हुआ। उस उपद्रव से रक्षा पाने के लिए प्रजा ने भयानक आंदोलन आरंभ किया। प्रजा के पक्ष का समर्थन करना अपना कर्त्तव्य समझकर युवक श्री घोष इस आंदोलन में शामिल हुए। इस कार्य में उन्होंने बहुत-कुछ सफलता भी प्राप्त की। इसी समय प्रजाहित-साधन के संबंध में समाचार-पत्रों की उपयोगिता पर उनका ध्यान गया। अतएव उन्होंने बंगला में एक साप्ताहिक पत्र निकालने का संकल्प किया। 'अमृत बाजार-पत्रिका' श्री घोष ने साप्ताहिक रूप में पहले अपने गांव से निकाली, फिर कलकत्ते से। १८७९ ई० में लार्ड लिटन ने देशी भाषाओं के पत्रों का मुंह बंद करने के लिए एक कानून बनाया। इस कानून से बचने के लिए श्री घोष ने पत्रिका को अंग्रेज़ी में निकालना शुरू किया। बाद में कलकत्ते से ही पत्रिका दैनिक रूप में निकलने लगी। अंग्रेज़ी में भी उसे वही ख्याति मिली, जो बंगला में मिली थी। दैनिक के रूप में तो पत्रिका का धीरे-धीरे राष्ट्रव्यापी प्रचार हो गया। श्री घोष के बारे में भी द्विवेदीजी ने लिखा है—"अनुचित बातें होते देख शिशिर को बहुत कष्ट होता था। इसी से विवश होकर वे कभी-कभी सरकारी अफसरों के कार्यों की बड़ी तीव्र आलोचना किया करते थे। इनके इस काम से बहुत लोग असंतुष्ट भी रहते थे। पर शिशिर बाबू इसकी कुछ भी परवा न करते थे। अपना सर्वस्व गंवाकर भी देशहित साधन करना शिशिर बाबू अपना परम धर्म्म समझते थे।" उन्होंने कालाकांकर-नरेश राजा रामपाल सिंह की भी एक जीवनी लिखी है, जिन्होंने लंदन से 'हिंदोस्थान' नाम का एक त्रैमासिक पत्र हिंदी, उर्दू और अंग्रेज़ी में निकालना शुरू किया था।

स्वदेश लौटने पर उन्होंने उक्त पत्र को कालाकांकर से हिंदी में और दैनिक रूप में निकाला। द्विवेदीजी ने मातृभाषा-प्रेम के लिए राजा साहब की भूरि-भूरि प्रशंसा की है और लिखा है कि शुरू में 'हिंदोस्थान' ही हिंदी का एकमात्र दैनिक पत्र था।

द्विवेदीजी ने कुछ राजा-महाराजाओं और प्रशासकों की भी जीवनियां लिखी हैं। राजा-महाराजाओं में उन्हें वे पसंद आते थे, जो कि प्रजापालक, बौद्धिक और हिंदी-प्रेमी होते थे। भिनगा-नरेश श्री उदय प्रताप सिंह उन्हें ऐसे ही राजा प्रतीत हुए थे। उन्होंने न केवल अपने राज्य में प्रजा के कल्याण के लिए अनेक कार्य किए थे, बल्कि वे विद्वान् और लेखक भी थे। हिंदी के प्रति अतिशय अनुराग के चलते उन्होंने काशी नागरी प्रचारिणी सभा को हजारों रुपए दान के रूप में दिए थे। प्रशासकों में से उन्होंने मुंशी नानकचंद और राजा सर श्री टी० माधवराव का जीवन-परिचय प्रस्तुत किया है। श्री नानकचंद पहले संपादक थे। बाद में वे इंदौर रियासत से संबद्ध हुए और उसके नायब दीवान के पद तक पहुंचे। वे अत्यंत योग्य और कर्मठ व्यक्ति थे। दीवान के रूप में उन्होंने रियासत के काम में अनेक सुधार किए। जो बात उन्हें उचित मालूम पड़ती थी, उसे वे अपने हानि-लाभ का विचार छोड़कर निर्भयतापूर्वक तुरंत कर डालते थे। द्विवेदीजी उनके इन गुणों पर तो मुग्ध थे ही, उनमें एक और विशेषता थी, जिसने उन्हें उनकी ओर आकर्षित किया था। वह विशेषता थी उनका हिंदी-प्रेम, जिससे प्रेरित होकर उन्होंने इंदौर राज्य के मदरसों और दफ़्तरों में मराठी की जगह हिंदी को स्थान दिलाया था। श्री माधवराव कुशल प्रशासक और प्रबंधक तो थे ही, वे प्रगतिशील विचारक और अंग्रेज़ी के लेखक तथा अपनी मातृभाषा के कवि भी थे। वे त्रावनकोर, इंदौर और बड़ौदा रियासतों में दीवान के पद पर रहे थे और वहां अनेकानेक सुधार किए थे। उनके सामाजिक विचार अत्यंत प्रगतिशील थे। वे स्त्री-शिक्षा के प्रचार के पक्ष में थे और बाल-विवाह के विरुद्ध थे। उनका मत था कि हिंदू धर्मशास्त्र चूंकि प्राचीन काल के हिंदुओं की सामाजिक अवस्था के अनुकूल बनाए गए थे, इसलिए वे आज उपयोगी नहीं हो सकते।

द्विवेदीजी ने संतों और महात्माओं की जो जीवनियां लिखी हैं, उनमें श्री रामकृष्ण परमहंस की जीवनी प्रमुख है। इनकी जीवनी उन्होंने क्यों लिखी, इस प्रश्न का उत्तर उनके इन शब्दों से मिलता है : "रामकृष्ण यथार्थ में महान् थे। सब धर्म्मों का तत्त्व जानने के लिए, सुनते हैं उन्होंने मुसलमानों के नियमानुसार भी ईश्वर की उपासना की। उन्होंने अपनी दाढ़ी बढ़ाई, मुसलमानों के समान भोजन किए, और कुरान की आयतों तक का पाठ किया। उन्होंने ईसाई धर्म्म के अनुसार भी आचरण किया, क्राइस्ट के वचनों का विचार किया, और उसी धर्म्म के अनुकूल व्यवहार भी किया। परंतु अंत में उन्होंने यह फल निकाला कि ईश्वर

सबका एक है, और सदाचरण करने तथा उनकी आराधना में लगे रहने से सबको उसकी प्राप्ति हो सकती है। अंतर इतना ही है कि कोई धर्म्म-मार्ग सरल और कोई टेढ़ा, अतएव देर से सिद्धि का देने वाला है। मत-मतांतर के संबंध में झगड़ा करने वालों को महात्मा रामकृष्ण की इस उक्ति से उपदेश लेना चाहिए।" रामकृष्ण धार्मिक सामंजस्य और सांप्रदायिक एकता के अक्षय प्रेरणा-स्रोत थे। सामंत-विरोधी जनवादी चेतना के प्रसार के आरंभिक दौर में स्वभावतः द्विवेदीजी की दृष्टि उनकी ओर गई और उन्होंने हिंदी पाठकों को उनके जीवन और उनकी धर्म-साधना से परिचित कराया।

अपनी जीवनियों में द्विवेदीजी ने भरपूर तटस्थता बरती है, यद्यपि अपने चरित-नायकों के प्रति उन्होंने सहानुभूति का भाव नहीं छोड़ा है। उन्होंने उनके आचरण के बारे में लिखा है और अत्यंत संक्षेप में उसका कारण भी बतलाया है। उदाहरण के लिए यह अंश देखा जा सकता है: "मधुसूदन अपने पिता के अकेले पुत्र थे। घर में अतुल संपत्ति थी। अतएव लड़कपन ही में उनको व्ययशीलता के दोष ने घेर लिया। जैसे-जैसे वह तरुण होने लगे वैसे-ही-वैसे वेश-भूषा बनाने, अच्छे-अच्छे कपड़े पहनने, अखाद्य खाने और अपेय पीने की अभिलाषा ने उनको अपने अधीन कर लिया।" पं० बलदेवप्रसाद मिश्र की उन्होंने बहुत तारीफ की है, लेकिन उनके व्यक्तित्व में जो कमजोरी थी उसकी ओर भी उन्होंने बहुत ही शालीनता और आत्मीयता के साथ संकेत किया है। उन्होंने लिखा है कि "जब से हमारा परिचय पंडित बलदेवप्रसाद से हुआ तब से वह अक्सर अपनी नयी पुस्तकों की एक कापी हमको भेजते थे। एकबार उन्होंने नाट्यशास्त्र संबंधी अपनी एक पुस्तक हमारे पास भेजी। हमें वह पुस्तक बहुत अच्छी लगी। उसके लिए हमने उनको अनेक धन्यवाद दिए। पर हमने इतना लिख दिया कि मराठी में इस विषय की अमुक पुस्तक आपकी नज़र से गुजरी हो। तब से आप हमसे कुछ विरक्त से हो गए। इसका हमें बहुत खेद है।"

द्विवेदीजी ने बहुत छोटी-छोटी घटनाओं से व्यक्तित्व की पहचान कराई है। पं० सरयूप्रसाद मिश्र के विद्याप्रेम का परिचय उन्होंने एक छोटी-सी घटना से दिया है,जो कि अत्यंत मार्मिक है: "रात को एक-एक, दो-दो बजे तक यह गुरु के ही स्थान पर रहते। वहां यह पढ़ते भी और गुरु की सेवा भी यथाशक्ति करते। बहुत रात बीत जाने पर जब यह घर लौटते, तब कभी-कभी घंटों बाहर ही खड़े रहना पड़ता। माता के जगने पर किवाड़ खुलते, तब वह भीतर जाते।" द्विवेदीजी ने अपनी अनेक जीवनियों को संस्मरण का स्पर्श प्रदान किया है, जिससे वे अधिक सजीव हो गई हैं। पं० बलदेवप्रसाद मिश्र की इच्छा थी कि यदि द्विवेदीजी बंबई जाएं तो वे उनकी कृति-विशेष की चर्चा वेंकटेश्वर प्रेस के सेठ खेमराज के सामने करें। द्विवेदीजी ने उनकी जीवनी में यथास्थान अफसोस के साथ यह लिखा है कि

"तब से बंबई जाने का हमें मौका ही न आया।"

ऊपर जिन जीवनियों की चर्चा की गई है, उनमें से प्राय: सभी पर्याप्त विवरणात्मक हैं। इसके बाद भी वे पठनीय हैं, तो इस कारण भी कि उनमें यत्र-तत्र हास्य-विनोद के तत्त्व भी देखने को मिलते हैं। एक संक्षिप्त जीवनी द्विवेदीजी ने अयोध्या के प्रसिद्ध कवि लछीराम की भी लिखी थी। उनके संबंध में उनकी इस टिप्पणी का आखिरी वाक्य पर्याप्त मनोरंजक है: "लछीरामजी के चित्र से मालूम होगा कि यद्यपि आप पुराने ढंग के कवि थे और पुराने ढंग की पगड़ी पहनते और लाठी बांधते थे तथापि पुरानी चाल के जूतों की जगह आप बूट पहनते थे। नयी चीजों से बूढ़े कविवर भी नहीं बचे।" पं० बलदेवप्रसाद मिश्र की जीवनी में भी उन्होंने एक मनोरंजक बात कही है। मुरादाबाद में एकाध ऐसे लेखक हुए हैं, जिनके बारे में यह प्रसिद्ध था कि उनके कान में देवता और ऋषि-मुनि तक अद्‌भुत-अद्‌भुत पुस्तकों का आशय सुना जाते थे। उसे ही वे सज्जन लिखकर प्रकाशित कराते थे और उन सिद्ध पुरुषों की बदौलत नाम और दाम दोनों खूब पैदा करते थे। इतना लिखने के बाद द्विवेदीजी ने लिखा है कि "जहां तक हम जानते हैं, पंडित बलदेवप्रसाद को इस तरह का कोई देवता सिद्ध न था।"

अपनी जीवनियों में द्विवेदीजी ने जहां-तहां बहुत ही सजीव चित्र अंकित किए हैं। पं० प्रताप नारायण मिश्र का यह चित्र द्रष्टव्य है: "हम दो दफे इनसे मिले। दोनों दफे हमने इनके लंबी दाढ़ी देखी। इनको नास सूंघने का व्यसन था। इनकी नाक दिन-भर नास फांका करती थी। इससे इनकी दाढ़ी और मूंछों के बालों पर भी थोड़ा-बहुत नास छाया रहता था।" मिश्रजी का स्वभाव उन्होंने इन शब्दों में अंकित किया है: "प्रताप नारायण के स्वभाव में स्वच्छंदता अधिक थी। वह हमेशा अपने ही ढंग में मस्त रहते थे। किसी की पर्वा उनको न थी। जिन लोगों के साथ वह बैठते-उठते थे अथवा जिनसे उनका मैत्रीभाव था उनके यहां कभी-कभी वह दिन-दिन भर पड़े रहते थे। पर कभी-कभी हजार मिन्नत आरजू करने पर भी उनके यहां वह न जाते थे। वह सर्वथा मनमौजी थे।" मिश्रजी की तबीअत में कैसी जिंदादिली थी, इसकी सूचना द्विवेदीजी ने एक घटना के उल्लेख के जरिए दी है। मिश्रजी नाटक खेलने के विशेष प्रेमी थे। जब-जब वे रंगमंच पर उतरे, उनके अभिनय की चारों ओर तारीफ हुई। एक बार उन्होंने 'उर्दू-बीबी' का पार्ट लिया। उस समय उनके और मुसलमान वेश्या के वेश में कोई अंतर न था। दर्शकों में बैठी हुई एक प्रसिद्ध वेश्या से 'बुआ सलाम' कहकर उन्होंने सलाम किया, तो वह सहसा बोल उठी, "बेटी, जीती रह।"

द्विवेदीजी के गद्य का बहुत ही निखरा हुआ रूप उनकी जीवनियों में देखने को मिलता है। इन जीवनियों की भाषा व्यवस्थित और सुगढ़ तो है ही अनेक स्थलों पर अत्यंत संवेदनशील भी है। इसका कारण यह है कि द्विवेदीजी शब्द-

योग के मामले में शुद्धतावादी नहीं थे और जहां जो शब्द उन्हें सटीक मालूम पड़ता था, दुविधारहित चित्र से उसका प्रयोग करते थे। कहीं उन्होंने 'पीयूष-निंदित'-जैसे तत्सम शब्द का प्रयोग किया है ("प्राचीन महाकवियों के पीयूष-निंदित काव्यरस का आस्वादन करते रहने के कारण शायद उनको अपने मुख से कुछ कहने की इच्छा ही नहीं हुई है"), कहीं 'वनिज'-जैसे तद्भव शब्द का ("दूसरों को धर्मोपदेश देना ही जिनके घर का वनिज है वह जान-बूझकर दूसरे की वस्तु को कदापि अपनी न कहेंगे"), कहीं अरबी के 'रुजू'-जैसे शब्द का ("शायद उनकी तबीयत उस समय किसी और तरफ रुजू थी") और कहीं अंग्रेजी के 'टोटल'-जैसे शब्द का ("आपके सर्वोपकारी दानों का 'टोटल' लगाइए")। द्विवेदीजी की प्रांजल और प्रवाहपूर्ण भाषा का नमूना उनके ऐसे वाक्यों में देखने को मिलता है—"माधवराव के यश:सौरभ से उस समय दक्षिण भारत महक रहा था।" कहने की आवश्यकता नहीं कि भाषा की यह सृजनात्मकता द्विवेदीजी की जीवनियों की सफलता का एक बड़ा कारण है। प्राय: उनकी सारी जीवनियां 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई थीं। बाद में वे 'वनिताविलास', 'सुकवि-संकीर्तन', 'कोविद-कीर्तन', 'विदेशी विद्वान्', 'चरितचर्य्या', 'चरित-चित्रण' आदि संग्रहों में संगृहीत हुईं।

साहित्य-क्षेत्र में द्विवेदीजी की सबसे महत्त्वपूर्ण देन उनकी आलोचना है। वे चूंकि संस्कृत के विद्वान् थे, इसलिए उन्होंने आलोचनात्मक लेखन का आरंभ संस्कृत के कवियों और उनकी कृतियों पर विचार करने से ही किया। 'सरस्वती' का संपादन-भार ग्रहण करने के बाद से उनका संबंध हिंदी साहित्य से निरंतर गाढ़ा होता गया, जिसके परिणामस्वरूप उन्होंने हिंदी साहित्य को आलोचना का विषय बनाया और अपनी आलोचना के माध्यम से उसमें नवचेतना के प्रसार के लिए अनथक प्रयास किया। द्विवेदीजी जनवादी दौर के लेखक थे, इसलिए उन्होंने हिंदी के नवीन साहित्य को देश और समाज की परिस्थितियों से जोड़ने पर बल दिया और उसमें जो सामंती प्रवृत्तियां शेष थीं, उनके विरुद्ध तीखा संघर्ष चलाया। इस दृष्टि से हिंदी आलोचना में वे भारतेंदु हरिश्चंद्र, पं० बालकृष्ण भट्ट और उपाध्याय पं० बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमघन' की परंपरा की अगली कड़ी थे।

हिंदी कविता में सामंती प्रवृत्ति रीति और शृंगार के रूप में प्रकट हुई थी। द्विवेदीजी ने 'नायिका-भेद' शीर्षक से एक लेख लिखा, जिसमें उन्होंने उक्त प्रवृत्ति से प्रेरित होकर लिखी गई रीतिकालीन कविता पर इन शब्दों में वज्र-प्रहार किया : "राज्याश्रय मिलने की देरी, राजाजी को सब प्रकार की नायिकाओं के रसास्वादन का आनंद चखाने के लिए कविजी को देरी नहीं। १० वर्ष की अज्ञात यौवना से लेकर ५० वर्ष की प्रौढ़ा तक के सूक्ष्म से सूक्ष्म भेद बतलाकर

और उनके हाव-भाव, विलास आदि की सारी दिनचर्या वर्णन करके ही कविजन संतोष नहीं करते थे। दुराचार में सुकरता होने के लिए दूती कैसी होनी चाहिए, मालिन, नाइन, धोबिन इत्यादि में से इस काम के लिए कौन सबसे अधिक प्रवीण होती है, इन बातों का भी वे निर्णय करते थे। नायक के सहायक विट और चेटक आदि का भी वर्णन करने से वे नहीं चूकते थे।" द्विवेदीजी हिंदी कविता को सामंतों की रुचि और आवश्यकता के घेरे से निकाल कर साधारण मनुष्यों और प्रकृति के मुक्त लोक में प्रतिष्ठित करना चाहते थे। उन्होंने अपने इसी लेख में कहा है कि इस विस्तृत विश्व में ईश्वर ने इतने प्रकार के मनुष्य, पशु, पक्षी, वन, निर्झर, नदी, तड़ाग आदि निर्माण किए हैं कि सैकड़ों कालिदास उत्पन्न होकर अनंत काल तक उन सबका वर्णन करते रहें तो भी उनका अंत न हो। फिर हम नहीं जानते कि और विषयों को छोड़कर नायिका-भेद सदृश अनुचित वर्णन क्यों करना चाहिए ?

द्विवेदीजी का एक आरंभिक लेख है—'हिंदी भाषा और उसका साहित्य'। इसमें उन्होंने स्पष्ट शब्दों में नायिका-भेद और रीति-निरूपण वाली परंपरा को छोड़कर नये प्रकार के साहित्य की रचना की आवश्यकता पर बल दिया है। उन्होंने कहा है कि नायिका-भेद और रस तथा अलंकार के विवेचन से पूरित पुस्तकों की भी इस समय आवश्यकता नहीं। हम यह समझते हैं कि 'जसवंत-जसो-भूषण' जैसे ग्रंथों से भाषा को कुछ भी लाभ नहीं पहुंचा। यदि इन ग्रंथों के बनाने और छपाने में जो धन व्यय किया गया, वह जीवनचरित, इतिहास अथवा किसी वैज्ञानिक ग्रंथ के लिए व्यय किया जाता, तो भाषा का भी उपकार होता और धन का भी सद्व्यय होता है। द्विवेदीजी के समय तक देश में ऐसे लोग वर्तमान थे, जो अंग्रेज़ी में संचित आधुनिक ज्ञान को अस्पृश्य समझते थे। द्विवेदीजी ने उन लोगों के विपरीत हिंदी भाषा के माध्यम से उस ज्ञान के व्यापक प्रचार की आवश्यकता बतलाई। यह इस बात का सूचक है कि उनका आलोचना-कार्य भी उनके व्यापक राष्ट्रीय कार्य का एक अंग था, कोई स्वतंत्र वस्तु नहीं। उनके ये शब्द स्मरणीय हैं : "इस समय अंग्रेज़ी का साहित्य अत्यंत उन्नत दशा को प्राप्त है। अतएव हमको चाहिए कि उस भाषा के अच्छे-अच्छे ग्रंथों का अनुवाद करके हिंदी के साहित्य की दशा को सुधारें। इस समय विज्ञान, इतिहास, यात्रा-वर्णन, जीवन-चरित और समालोचनाओं की हिंदी में बड़ी भारी न्यूनता है। इस न्यूनता को पूरा करना हिंदीवालों का परम धर्म है।"

भारतेंदु-युग में नाटक पर विशेष विचार किया गया था। पं० बालकृष्ण भट्ट और 'प्रेमघन' जी ने 'संयोगता स्वयंवर' की विस्तृत समीक्षाएं लिखी थीं। इसका कारण यह था कि उस युग में नाटक ही सर्वाधिक शक्तिशाली साहित्यिक माध्यम था। द्विवेदीजी ने कविता के संबंध में अधिक विचार किया, क्योंकि

उन्नीसवीं शताब्दी के अंत के साथ हिंदी में कविता का महत्त्व बढ़ने लगा था और कविता-संबंधी समस्याएं प्रमुख होने लगी थीं। इन समस्याओं में पहली समस्या यह थी कि कविता की भाषा खड़ी बोली होनी चाहिए, या ब्रजभाषा ही रहनी चाहिए। द्विवेदीजी ने कविता में खड़ी बोली के प्रयोग का न केवल समर्थन किया, बल्कि 'सरस्वती' के माध्यम से इसके लिए उन्होंने एक जोरदार आंदोलन चलाया। कविता के भाषा-परिवर्तन के संघर्ष में उन्होंने खड़ी बोली का पक्ष लिया इसका कारण भी उनका जनवादी आग्रह ही था। ब्रजभाषा को पुस्तकीय या क्षेत्र-विशेष तक सीमित भाषा बतलाते हुए उन्होंने खड़ी बोली को 'बोलचाल की भाषा' कहा और इन शब्दों में खड़ी बोली में कविता-रचना का सुझाव दिया : "बोलचाल की भाषा में कविता अवश्य होनी चाहिए। कोई कारण नहीं कि हम लोग बोलें एक भाषा और कविता करें दूसरी भाषा में। बातचीत के समय जो जिस भाषा में अपने विचार प्रकट करता है वह यदि उसी भाषा में कविता भी करे तो और भी उत्तम हो। ब्रजभाषा बहुत काल से कविता में प्रयुक्त होती आई है। पर एक अथवा दो जिले की भाषा पर देश भर के निवासियों का प्रेम बहुत दिन तक नहीं रह सकता।" खड़ी बोली भी एक क्षेत्र की ही भाषा थी, लेकिन व्यापारिक पूंजीवाद के विकास के साथ वह अपने क्षेत्र से निकलकर धीरे-धीरे संपूर्ण हिंदी भाषी जाति के सामान्य व्यवहार की भाषा बन गई। इस दृष्टि से खड़ी बोली के प्रसार का संबंध सामंती व्यवस्था के टूटने और समाज में पूंजीवादी संबंधों के उदय से है। द्विवेदीजी ने खड़ी बोली के इस प्रगतिशील रूप को पहचाना था इसीलिए उन्होंने उसे 'बोलचाल की भाषा' कहा था और उसका क्षेत्र ब्रजभाषा की तुलना में अत्यधिक व्यापक बतलाया था।

कविता की भाषा के रूप में खड़ी बोली का प्रयोग किया जाए, द्विवेदीजी के इस आग्रह का यह अर्थ लगाना गलत होगा कि वे यह मानते थे कि खड़ी बोली के अलावा और किसी भाषा में अच्छी कविता लिखी ही नहीं जा सकती। खड़ी बोली का पक्ष वे समाज की नयी स्थिति और नयी आवश्यकता को ध्यान में रखने के कारण ले रहे थे। उन्होंने 'कवि-सम्मेलन' शीर्षक अपने लेख में लिखा है कि कविता सभी भाषाओं और सभी बोलियों में हो सकती है। देहात में अपढ़, अशिक्षित और गंवार आदमियों के मुंह से उनकी बोली में कविता सुनने को मिलती है। कभी-कभी उनके गीतों में कवित्व की झलक और सुंदर भावों का सम्मिश्रण देख या सुनकर हृदय आनंद से पुलकित हो जाता है। जब सभी भाषाओं और बोलियों में कविता हो सकती है और होती भी है तब ब्रजभाषा अपवाद नहीं। जिसकी इच्छा हो वह उसी भाषा या बोली में कविता लिखे और ब्रजवासियों को ही विशेषतया प्रसन्न करे। पर जो कवि बोलचाल की हिंदी को व्यापक भाषा समझता होगा और जो यह चाहता होगा कि उसकी रचना बहुसंख्यक लोगों को

पढ़ने को मिले और अन्यान्य प्रांतों के निवासी भी उससे लाभ उठावें वह उसी में अपने हृदयोद्गार प्रकट करेगा। कविता में खड़ी बोली के प्रयोग का संबंध द्विवेदीजी की इच्छा से नहीं था। इसका निश्चित ऐतिहासिक आधार था, जिसके बल पर ही उन्होंने कहा था कि "यह निश्चित है कि किसी समय बोलचाल की हिंदी भाषा ब्रजभाषा की कविता के स्थान को अवश्य छीन लेगी।" कहने की आवश्यकता नहीं कि उनकी भविष्यवाणी आगे आनेवाले काल में पूर्णतः सत्य सिद्ध हुई।

एक ही भाषा के कई रूप होते हैं, इसलिए द्विवेदीजी कविता में केवल खड़ी बोली के प्रयोग के पक्ष में नहीं थे। वे खड़ी बोली के कई रूपों से एक रूप को पसंद करते थे और कविता में उसी के प्रयोग की सलाह देते थे। उन्होंने लिखा है कि कवि को ऐसी भाषा लिखनी चाहिए, जिसे सब कोई सहज में समझ ले और अर्थ को हृदयंगम कर ले। उन्होंने इसका कारण यह बतलाया है कि पद्य पढ़ते ही उसका अर्थ बुद्धिस्थ हो जाने से विशेष आनंद प्राप्त होता है और पढ़ने में जी लगता है। परंतु जिस काव्य का भावार्थ कठिनता से समझ में आता है, उसके आकलन में जी नहीं लगता और बराबर अर्थ का विचार करते-करते उससे विरक्ति हो जाती है। द्विवेदीजी ने यहां कविता पर एक साधारण पाठक की दृष्टि से विचार किया है, लेकिन उन्होंने जो कुछ कहा है, वह कविता के विशिष्ट पाठकों पर भी लागू होता है। एक सच्ची बात उन्होंने सरल ढंग से कही है, इसलिए उसका मूल्य किसी तरह कम नहीं होना चाहिए।

द्विवेदीजी कविता की भाषा सरल रखना चाहते थे इसका असली कारण यह था कि बदली हुई परिस्थितियों में वे कविता को एक बड़े कार्य की सिद्धि का साधन बनाना चाहते थे। 'साहित्यालाप' में एक स्थल पर उन्होंने लिखा है : "काव्यों की रचना और उनका विषय ऐसा होना चाहिए जो देश और काल के अनुकूल हो।" उन्होंने नायिका-भेद और रीति-निरूपण की परंपरा का जो विरोध किया, उसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है। 'कवि-कर्त्तव्य' शीर्षक अपने प्रसिद्ध लेख में उन्होंने उस संबंध में और भी कहा है : "यमुना के किनारे केलि-कौतूहल का अद्भुत-अद्भुत वर्णन बहुत हो चुका। न परकीयाओं पर प्रबंध लिखने की अब कोई आवश्यकता है और न स्वकीयाओं के 'गतागत' की पहेली बुझाने की।" जाहिर है कि इन विषयों के बदले द्विवेदीजी कविता में जिन नैतिक, सामाजिक और राष्ट्रीय विषयों को लाना चाहते थे, उन पर कविता लिखना तभी पूर्णतः सफल होता, जबकि वह सर्वथा बोधगम्य भाषा में लिखी जाती। यह भाषा और भाव की एकता है।

बोधगम्य भाषा का मतलब उसका काव्यभाषा के गुणों से रहित होना नहीं हैइस संबंध में भी द्विवेदीजी ने विचार किया। उक्त लेख में ही उन्होंने लिखा है।

कि विषय के अनुकूल शब्द-स्थापना करनी चाहिए। कविता एक अपूर्व रसायन है। उसके रस की सिद्धि के लिए बड़ी सावधानी, बड़ी मनोयोगिता और बड़ी चतुराई आवश्यक होती है। रसायन सिद्ध करने में आंच के न्यूनाधिक होने से जैसे रस बिगड़ जाता है, वैसे ही यथोचित शब्दों का उपयोग न करने से काव्यरूपी रस भी बिगड़ जाता है। उनके इस कथन से यह स्पष्ट है कि वे कविता की भाषा की सबसे बड़ी विशेषता उसमें उपयुक्त शब्दों का प्रयोग मानते थे। लेकिन यहीं पर उन्होंने यह भी लिखा है कि शब्द चुनने में अक्षर-मैत्री का विशेष विचार रखना चाहिए, क्योंकि अच्छे अर्थ का द्योतक न होकर भी कोई-कोई पद्य केवल अपनी मधुरता से ही पढ़नेवालों के अंतःकरण को द्रवीभूत कर देता है। इसका मतलब कविता में अर्थ की उपेक्षा करके मधुर ध्वनिवाले शब्दों की योजना को ही सर्वाधिक महत्त्व देना नहीं है। द्विवेदीजी कविता में अर्थ के महत्त्व को पहले स्वीकार करते हैं, 'कोमल-कांत पदावली' के महत्त्व को पीछे। अपने लेख-संग्रह 'विचार-विमर्श' में एक स्थल पर उन्होंने बोलचाल की भाषा में लिखी जानेवाली कविता के विरोधियों को उत्तर देते हुए लिखा है: "क्या 'कोमल-कांत पदावली' ही का नाम कविता है ? क्या जिस पद्य में कोई अच्छा भाव नहीं, सिर्फ लच्छेदार मीठे-मीठे शब्दों की भरमार है, वही कविता है ?" ब्रजभाषा की पुरानी कविता यानी सूर-तुलसी की कविता उन्हें पसंद थी, क्योंकि उसमें शब्द-योजना के साथ-साथ उत्कृष्ट अर्थ भी मिलता है। इसके विपरीत रीति-काल की कविता उन्हें नापसंद थी, क्योंकि उसमें मधुर शब्द-योजना पर जितना बल है, उतना सुंदर अर्थ अथवा भाव पर नहीं। इस संबंध में उन्होंने वहीं पर कहा है: "ब्रजभाषा के मीठे-मीठे शब्दों के समुदाय और दो-दो तीन-तीन पृष्ठों तक व्यापक विशेषणावली से पूर्ण पद्य रचना का नाम कविता हो भी नहीं सकता। ब्रजभाषा की पुरानी कविता की ललित पदावली में मनोहर भाव भी पाए जाते हैं। इसी से उसका अब भी आदर है।"

कविता में 'विषय के अनुकूल शब्द-स्थापना' के साथ-साथ द्विवेदीजी ने इस बात पर भी बल दिया है कि उसमें "शब्दों को यथास्थान रखना चाहिए।" कुछ आलोचकों ने उनके इस कथन का यह अर्थ लगाया है कि संभवतः वे भी वर्ड्सवर्थ की तरह यह मानते थे कि गद्य और पद्य का पदविन्यास एक ही तरह का होना चाहिए। लेकिन द्विवेदीजी के कथन को यहां तक खींचने की आवश्यकता नहीं है। वे शब्दों को यथास्थान रखने के पक्ष में इसलिए थे कि इससे भाषा की बोधगम्यता बनी रहेगी और उसके अभाव में 'अर्थांश' में जो क्लिष्टता आ जाती है, उससे वह मुक्त रहेगी। काव्यभाषा के संबंध में उनकी यह उक्ति अत्यंत मार्मिक है कि मुहावरे का भी विचार रखना चाहिए, क्योंकि मुहावरा ही भाषा प्राण है। कविता की भाषा न केवल सरल हो, उसमें न केवल उपयुक्त शब्दों का प्रयोग हो और

उसमें न केवल शब्द यथास्थान हों, बल्कि वह मुहावरेदार हो। किसी भी भाषा की शक्ति और वैशिष्ट्य उसके मुहावरों में ही निहित होता है। असली और नकली भाषा का फर्क उसमें मुहावरों के प्रयोग से ही मालूम पड़ता है। यदि भाषा असली हुई, तो वह मुहावरेदार होती है और नकली हुई, तो उसमें मुहावरे नहीं होते, या फिर वे गलत रूप में प्रयुक्त होते हैं। इस प्रकार कविता की भाषा को मुहावरेदार बतलाकर द्विवेदीजी ने उसके संबंध में एक बुनियादी महत्त्व की बात कही।

ऊपर कहा जा चुका है कि द्विवेदीजी केवल शब्द या नाद-योजना को कविता नहीं मानते। 'रसज्ञ-रंजन' में संकलित एक लेख में वे कविता में अर्थ का महत्त्व बतलाते हुए कहते हैं कि 'अर्थ-सौरस्य' ही कविता का प्राण है। जिस पद्य में अर्थ का चमत्कार नहीं, वह कविता नहीं हो सकता। उनके अनुसार यह अर्थ-सौरस्य कविता में कवि जिस विषय का वर्णन करता है, उससे तदात्म हो जाने से ही संभव होता है। इसका मतलब यह है कि अर्थ-सौरस्य से द्विवेदीजी का वही मतलब है जो, 'भावुकता' से आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का। शुक्ल जी ने लिखा है कि कवि की पूर्ण भावुकता इसमें है कि वह प्रत्येक मानव-स्थिति में अपने को डालकर उसके अनुरूप भाव का अनुभव करे। उन्होंने इस बात को अपनी 'गोस्वामी तुलसीदास' नामक पुस्तक में इस प्रकार और स्पष्ट किया है : "ज्ञान की जिस चरम सीमा पर जाकर ज्ञाता और ज्ञेय एक हो जाते हैं, भाव की उसी चरम सीमा पर जाकर आश्रय और आलंबन भी एक हो जाते हैं।" विभिन्न मानव-स्थितियों में अपने को डालकर उसके अनुरूप भाव का अनुभव करने का मतलब है आश्रय और आलंबन की एकता। ऐसी स्थिति में ही कवि को सच्चे अर्थों में भावुक कहा जा सकता है। स्पष्टतः शुक्ल जी की 'भावुकता' 'रसात्मकता' है। कविता तब तक रसात्मक नहीं हो सकती, जब तक कवि विषय-वस्तु के साथ तदात्म न हो। यह कविता में वस्तुनिष्ठता की प्रतिष्ठा करना है। द्विवेदीजी ने अपनी उपर्युक्त मान्यता के द्वारा यही कार्य किया है। उन्होंने और भी लिखा है : "जब कवि की आत्मा का वर्ण्य-विषयों से इस प्रकार निकट संबंध हो जाता है तभी उसका किया हुआ वर्णन यथार्थ होता है और तभी उसकी कविता पढ़कर पढ़नेवालों के हृदय पर तद्वत् भावनाएं उत्पन्न होती हैं।"

स्वभावतः द्विवेदीजी ने कविता में रस के महत्त्व की स्थापना की है। उनका कहना है कि "रस ही कविता का सबसे बड़ा गुण है।" इस रस के अनेक प्रकार हैं। उनके अनुसार कविता में सभी रसों की योजना हो सकती है। वे रीतिकालीन काव्य-परंपरा के विरोधी आलोचक थे, लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि वे शृंगार रस को ही दोषी मानते थे। वे शृंगार रस को नहीं, बल्कि उसके गलत उपयोग के लिए कवियों को दोषी मानते थे। उन्होंने लिखा है कि शृंगार रस होने से ही कविता अश्लील नहीं हो जाती। यदि ऐसा होता तो कालिदास की क्या

गति होती ? उनके तो प्रायः सभी काव्य और सभी नाटक पढ़ने योग्य न समझे जाते । उनमें तो बीच-बीच में वीर, शांत और करुण रस के प्रवाह में भी शृंगार रस के भंवर उठा करते हैं ।

रस को कविता का सबसे बड़ा गुण माननेवाला आलोचक कविता में अलंकारों को ज़रूरत से ज्यादा महत्त्व नहीं दे सकता । द्विवेदीजी रसात्मकता की रक्षा के लिए कविता के संबंध में स्वच्छंदतावादी मान्यता तक चले गए हैं । उन्होंने 'रसज्ञ-रंजन' में ही लिखा है कि कविता करने में अलंकारों को बलात् लाने का प्रयत्न न करना चाहिए । विषय-वर्णन के झोंके में जो कुछ मुख से निकले उसे ही रहने देना चाहिए । बलात् किसी अर्थ के लाने की चेष्टा करने की अपेक्षा प्रकृति भाव से जो कुछ आ जाए उसे ही पद्यबद्ध कर देना अधिक सरस और आह्लादकारक होता है । द्विवेदीजी सामंती काव्य-परंपरा का विरोध करनेवाले आलोचक थे, इसलिए स्वाभाविक रूप से उन्होंने स्वच्छंदतावादी काव्य-दर्शन की कई मान्यताओं को स्वीकार किया । शुक्लजी ने रीतिकालीन कविता के बारे में कहा है कि उसमें "कवियों की व्यक्तिगत विशेषता की अभिव्यक्ति का अवसर बहुत ही कम रह गया ।" द्विवेदीजी में भी हमें इस 'व्यक्तिगत विशेषता' का आग्रह मिलता है । उन्होंने 'विचार-विमर्श' में एक स्थल पर लिखा है कि सुकवियों की रचनाओं में एक प्रकार की अदृश्य छाप-सी लगी रहती है, क्योंकि उन्हें पढ़ते या सुनते ही सहृदय जन बहुधा ताड़ जाते हैं कि ये तो अमुक कवि या लेखक की लेखनी से निकली जान पड़ती हैं । कविता में व्यक्तिगत विशेषता का यह आग्रह आधुनिक काल की सामंतवाद-विरोधी चेतना की ही देन है ।

द्विवेदीजी ने नायिका-भेद और रीति-निरूपण की परंपरा को ध्वस्त कर ऐसे विषयों पर कविता लिखने की बात कही, जो 'मनोरंजक' के साथ-साथ 'उपदेशजनक' हों । 'मनोरंजन' और 'उपदेश' ये दोनों उनके लिए गंभीर अर्थ रखनेवाले शब्द थे । 'मनोरंजन' के भीतर वे संपूर्ण काव्यानंद को समेटते थे और 'उपदेश' के भीतर केवल नैतिक आदर्शों को नहीं, बल्कि देश की शिक्षा और प्रगति से संबंधित तमाम बातों को । श्री मैथिलीशरण गुप्त की 'भारत-भारती' के प्रकाशन पर उन्होंने लिखा था : "यह सोते हुओं को जगानेवाला है; भूले हुओं को ठीक राह पर लानेवाला है; निरुद्योगियों को उद्योगशील बनानेवाला है; आत्मविस्मृतों को पूर्व स्मृति दिलानेवाला है; निरुत्साहियों को उत्साहित करने वाला है; उदासीनों के हृदय में उत्तेजना उत्पन्न करनेवाला है । यह स्वदेश पर प्रेम उत्पन्न कर सकता है; यह पूर्व-पुरुषों के विषय में भक्ति-भाव का उन्मेष कर सकता है; यह सुख, समृद्धि और कल्याण की प्राप्ति में हमारा सहायक हो सकता है ।" द्विवेदीजी ने इस काव्य को 'वर्तमान और भावी कवियों के लिए आदर्श' कहा था । इसकी विषय-वस्तु का उन्होंने जो संकेत दिया है उससे हम उनके द्वारा प्रयुक्त 'उपदेश'

शब्द की अर्थगत व्यापकता का अनुमान कर सकते हैं।

द्विवेदीजी ने कविता की भाषा और विषयवस्तु पर ही नहीं, छंदों पर भी विचार किया। पुराने छंद चूंकि नयी विषय-वस्तु की अभिव्यक्ति में बाधक हो रहे थे, इसलिए उन्होंने उनका मोह त्यागने की बात कही और इस क्षेत्र में नये प्रयोग करने की प्रेरणा दी। उन्होने नयापन का पक्ष लेते हुए कवियों से कहा कि किसी भी प्रचलित परिपाटी का क्रमभंग होता देख प्राचीनता के पक्षपाती बिगड़ खड़े होते हैं और नयी चाल के विषय में नाना प्रकार की कुचेष्टाएं और दोषोद्भावनाएं करने लगते हैं। यह स्वाभाविक बात है। परंतु यदि इस प्रकार की टीकाओं से लोग डरते, तो संसार से नवीनता का लोप ही हो जाता। हिंदी की परंपरागत कविता में कुछ छंदों का इतना अधिक प्रयोग हुआ था कि वे अत्यंत रूढ़ काव्यरूप बन गए थे। द्विवेदीजी ने कवियों से कहा कि दोहा, चौपाई, सोरठा, घनाक्षरी, छप्पय, सवैया आदि का प्रयोग हिंदी में बहुत हो चुका। अब उन्हें चाहिए कि यदि वे लिख सकते हैं, तो इनके अतिरिक्त और-और छंद भी लिखा करें। वे इन छंदों को एकदम छोड़ देने के पक्ष में नहीं थे, क्योंकि ये हिंदी के जातीय छंद हैं, लेकिन वे इनके परिपाटीबद्ध प्रयोग के विरुद्ध थे।

नए छंदों में द्विवेदीजी संस्कृत और उर्दू कविता में प्रयुक्त छंदों में से कुछ का प्रयोग चाहते थे। संस्कृत छंदों के संबंध में उन्होंने लिखा है कि हमारा अभिप्राय यह है कि दोहा, चौपाई आदि छंदों के साथ-साथ संस्कृत काव्यों में प्रयोग किए गए वृत्तों में से दो-चार उत्तमोत्तम वृत्तों का भी प्रचार हिंदी में किया जाए। इन वृत्तों में से द्रुत विलंबित, वंशस्थ और वसंततिलका आदि वृत्त ऐसे हैं, जिनका प्रचार हिंदी में होने से हिंदी काव्य की विशेष शोभा बढ़ेगी। इस दिशा में उन्होंने स्वयं भी प्रयास किए, लेकिन चूंकि खड़ी बोली की प्रकृति संस्कृत से भिन्न है, संस्कृत छंद उसके लिए उपयुक्त सिद्ध न हुए। उर्दू छंदों के बारे में उनकी यह राय थी कि बोलचाल की हिंदी की कविता उर्दू के विशेष प्रकार के छंदों में अधिक खुलती है, अतः ऐसी कविता लिखने में तदनुकूल छंद होने चाहिए। द्विवेदी-युग के अनेक कवियों ने अपनी कविताओं में उर्दू छंदों का प्रयोग कर हिंदी कविता की छंद-संबंधी एकरसता भंग की और उसमें नए संगीत की सृष्टि की।

द्विवेदीजी के छंद-प्रयोग-संबंधी विचार उनके साहित्य-संबंधी शेष विचारों के एकदम मेल में हैं। वे कविता सर्वसाधारण के लिए चाहते थे, इसलिए वे मुक्तछंद का समर्थन नहीं कर सकते थे। यदि छंदों का चुनाव विषय या मनोभाव के अनुकूल हो, तो उससे कविता की प्रभाव-वृद्धि में सहायता मिलती है। द्विवेदीजी ने 'रसज्ञ-रंजन' में ही यह बात बहुत ही सुंदर ढंग से कही है: "जैसे समय विशेष में राग विशेष के गाए जाने से चित्त अधिक चमत्कृत होता है, वैसे ही वर्णन के अनुकूल वृत्त प्रयोग करने से कविता का आस्वादन करनेवालों को अधिक

आनंद मिलता है।" साथ ही उन्होंने यह भी कहा है कि जो सिद्ध कवि हैं वे चाहे जिस छंद का प्रयोग करें, उनका पद्य अच्छा ही होता है। उन्होंने मुक्तछंद का समर्थन तो नहीं किया, लेकिन कविता को अनुप्रास और तुकों के बंधनों से मुक्त करने की चेष्टा अवश्य की। उन्होंने पादांत में अनुप्रासहीन छंद लिखने की वकालत की और कहा कि इस प्रकार के छंद जब संस्कृत, अंग्रेज़ी और बंगला में विद्यमान हैं, तब कोई कारण नहीं कि हिंदी में वे न लिखे जाएं।

अतुकांत छंदों में काव्य रचना करने की बात द्विवेदीजी ने केवल नवीनता की भावना से प्रेरित होकर नहीं कही थी। उन्होंने उसका स्पष्ट कारण बतलाया है : "अनुप्रासों के ढूंढने का प्रयास उठाने में समुचित शब्द न मिलने से अर्थांश की हानि हो जाया करती है, इससे कविता की चारुता नष्ट हो जाती है। अनुप्रासों का विचार न करने से कविता लिखने में सुगमता भी होती है और मनोऽभिलषित अर्थ व्यक्त करने में विशेष कठिनाई भी नहीं पड़ती।" कहने की आवश्यकता नहीं कि छायावादकाल में मुक्तछंद के समर्थन में जो तर्क दिए गए, उनमें द्विवेदीजी के इन तर्कों से बहुत मदद ली गई थी।

द्विवेदीजी काव्य रुचि की गतिशीलता से परिचित थे, इसलिए उन्होंने यह भी कहा था कि अनुप्रासयुक्त पादांत सुनते-सुनते हमारे कान उस प्रकार की पंक्तियों के पक्षपाती हो गए हैं, इसलिए अनुप्रासहीन रचना अच्छी नहीं लगती। बिना तुकवाली कविता के लिखने अथवा सुनने का अभ्यास होते ही वह भी अच्छी लगने लगेगी, इसमें कोई संदेह नहीं है। छंद कविता के लिए आवश्यक हैं, लेकिन इसका यह मतलब नहीं है कि जो कुछ भी छंदोबद्ध है, वह कविता है। ऐसी वस्तु पद्य हो सकती है, कविता नहीं। द्विवेदीजी छंदशास्त्र की सीमाओं से पूर्णतः अवगत थे। इसका प्रमाण 'समालोचना-समुच्चय' नामक अपने लेख-संग्रह के एक लेख में उन्होंने यह कहकर दिया है कि "छंदशास्त्र कवि को छंदों का लक्षण मात्र बतलाता है। वह छंदोरचना की रीति मात्र का प्रदर्शक है। बस। कवि होने के लिए अनेक बातें दरकार होती हैं।" इस संबंध में उन्होंने जो अपना अनुभव लिखा है, वह अत्यंत मार्मिक है और उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वे कविता और पद्य को एक नहीं समझते थे। उन्होंने लिखा है : "हमने हिंदी और संस्कृत के न मालूम, कितने छंदोग्रंथों की सैर कर डाली। यहां तक कि छंदों किंवा वृत्तों के समालोचन रूपी, क्षेमेंद्र आदिकृत, अनेक ग्रंथ भी पढ़ डाले। पर कवि न हुए। कविता के नाम से पद्य-रचना करना एक बात है, कवि होना दूसरी बात है।"

द्विवेदीजी ने कविता के अलावा नाटक और उपन्यास के संबंध में भी अपने विचार प्रकट किए। अभिनय का महत्त्व स्वीकार करते हुए उन्होंने 'साहित्यालाप' में संकलित एक लेख में कहा कि समाज की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं और दृश्यों का जैसा अच्छा चित्र अभिनय द्वारा दिखलाया जा सकता है, वैसा अच्छा और

किसी तरह नहीं। यह इस बात का सूचक है कि साहित्य और जनसाधारण के संबंध को सुदृढ़ करने में वे नाटक की भूमिका को भारतेंदु-युग के आलोचकों की तरह ही सर्वोपरि मानते थे। बीसवीं शताब्दी के आरंभिक दशकों में हिंदी में जो नाटक लिखे गए, वे प्रायः अनभिनेय थे। दूसरी ओर पारसी थिएटर में जो नाटक खेले जा रहे थे, वे सामाजिक दृष्टि से अच्छे न थे। द्विवेदीजी ने तत्कालीन हिंदी नाटकों की अभिनय की दृष्टि से आलोचना करते हुए कहा कि हिंदी में नाटक के नाम से इस समय जो अनेक पुस्तकें वर्तमान हैं उनमें अधिकांश का ठीक-ठीक अभिनय ही नहीं हो सकता। पारसी थिएटर की आलोचना उन्होंने यह कहकर की कि जो नाटक आजकल इन प्रांतों में नाटक कंपनियों के द्वारा खेले जाते हैं, वे प्रायः उर्दू में हैं। उनमें दिखलाए जाने वाले सामाजिक चित्र बहुधा अच्छे नहीं होते।

नाटक और अभिनय के बीच द्विवेदीजी घनिष्ठ संबंध मानते थे। आगे चलकर हिंदी में दो प्रकार के नाटकों की कल्पना की गई—साहित्यिक और मंचोपयोगी। द्विवेदीजी को इस तरह का कोई विभाजन स्वीकार न था। वे साहित्यिक नाटकों का मंचोपयोगी और मंचोपयोगी नाटकों का साहित्यिक होना आवश्यक समझते थे। इसी कारण उन्होंने हिंदी नाटकों और पारसी थिएटर में खेले जाने वाले उर्दू के नाटकों दोनों की आलोचना की।

द्विवेदीजी ने नाटक में कार्य-व्यापार अर्थात् अनुकरणीयता का महत्त्व 'संचयन' में संकलित एक लेख में बतलाया है। उन्होंने लिखा है कि विषय अर्थात् सामग्री का कार्य में परिणत होना अर्थात् अनुकरण द्वारा भली-भांति दिखलाया जाना नाटककार के लिए सबसे अधिक आवश्यक काम है। इसके लिए शास्त्र में जो नियम बतलाए गए है, वे आंख मूंदकर उन्हें मानने के पक्ष में न थे। भारतेंदु ने प्राचीन नाट्यशास्त्र के प्रति आलोचनात्मक दृष्टिकोण अपनाने की बात कही थी। द्विवेदीजी भी उक्त लेख में ही कहते हैं : "भरत और धनंजय ने अपने-अपने ग्रंथों में अभिनय के नियमों का विस्तृत वर्णन किया है। इन नियमों में से भी कोई कोई नियम बहुत ही सूक्ष्म हैं। वे ऐसे हैं कि नाटककार कवियों ने उनका बहुधा उल्लंघन किया है। स्थूल नियमों में से भी, देश-दशा और समय के परिवर्तन के कारण, बहुतेरे नियम यदि आजकल काम में न लाए जायं तो कोई हानि नहीं।" यहीं उन्होंने नाट्यशिल्प के संबंध में भी संकेत दिया है, जो कि अत्यंत महत्त्वपूर्ण है: "जीवन की घटनाएं, इतिहास में वर्णन की गई बातें, नाटक के विषय से संबंध रखनेवाली कथाएं, ये सब, एक प्रकार की प्रचंड लहरें हैं। इन सब को अस्त-व्यस्त न बहने देना चाहिए। इन्हें एक शृंखला से बांधकर यथास्थान और अपेक्षानुसार, जिसका जब समय आवे, उठने देना चाहिए।"

कविता और नाटक साहित्य की प्राचीन विधाएं हैं, लेकिन उपन्यास का

विकास आधुनिक काल में हुआ है। यह नवीन विधा यूरोप में पूंजीवाद के उत्थान के साथ प्रकट हुई और समाज तथा प्रकृति के विरुद्ध व्यक्ति के संघर्ष के चित्रण को अपना लक्ष्य बनाकर चली। सामंती समाज में व्यक्ति को कोई महत्त्व प्राप्त न था। ऐसी स्थिति में व्यक्ति की प्रतिष्ठा करनेवाला उपन्यास साहित्य में सामंती मूल्यों का विरोधी बना। स्वभावतः द्विवेदीजी-जैसे आलोचकों ने हिंदी में आगे बढ़कर इस नवीन विधा का स्वागत किया और इसे सही ढंग से अधिक से अधिक समृद्ध करने पर बल दिया। १९११ ई० में उन्होंने यह लिखा था कि "उपन्यासों का अधिक प्रकाशित होना हिंदी के उत्थान का शुभ लक्षण है" और "योग्य लेखकों को चाहिए कि उपन्यास-रचना को ओछा काम न समझ कर अच्छे उपन्यासों से समाज और साहित्य दोनों का कल्याणसाधन करें।"

१९२२ ई० में द्विवेदीजी ने 'उपन्यास-रहस्य' शीर्षक लेख लिखकर उपन्यास के संबंध में विस्तार से अपने विचार प्रकट किए। उन्हें यह मानने में कोई दिक्कत नहीं हुई कि साहित्य के इस नये रूप का जन्म पश्चिम में हुआ है और वहां यह फला-फूला है। उन्होंने लिखा है कि प्रकृत उपन्यास-साहित्य के जनन, उन्नयन और प्रचलन का श्रेय पश्चिमी देशों के लेखकों को ही है। उन्होंने ही साहित्य के इस अंग को कला की सीमा तक पहुंचा दिया है; उन्होंने ही इसे कला का रूप दिया है। इसकी विशेषता यह है कि काव्य और नाटक भी जहां नहीं पहुंच सकते, वहां यह बेधड़क पहुंच जाता है। लेकिन अंग्रेज़ी और हिंदी में भी ऐसे उपन्यासों की रचना भारी संख्या में हुई, जिनका उद्देश्य मनोरंजन-मात्र था। द्विवेदीजी ने इन उपन्यासों के बीच से सामाजिक यथार्थ का चित्रण करनेवाले उपन्यासों की धारा को निकलते देखा था। उन्होंने उन्हीं उपन्यासों का पक्ष लेते हुए लिखा : "वह समय गया जब उपन्यास दो घंटे दिल बहलाव-मात्र का साधन समझा जाता था। निकम्मे बैठे हुए हैं, लाओ कुछ पढ़ें। वक्त नहीं कटता, लाओ 'चपला' या 'चचला' ही देख जायं। उपन्यास जातीय जीवन का मुकुर होना चाहिए।"

द्विवेदीजी ने उपन्यास की कसौटी पर संस्कृत के कथा-साहित्य की भी परीक्षा की और उससे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि संस्कृत भाषा में लिखी गई कथा-सरित्सागर, कादंबरी, वासवदत्ता और दशकुमारचरित आदि पुस्तकों से कोई विशेष शिक्षा नहीं मिल सकती; मानसशास्त्र के आधार पर किए गए चरित्र-चित्रण की स्वाभाविकता भी सर्वत्र देखने को नहीं मिलती। हां, किसी हद तक इनसे मनोरंजन जरूर होता है। वस्तुतः कथावस्तु का जब चरित्र से संबंध नहीं होता, वह कहानी मात्र रहती है, जिसका मानवीय मूल्य कुछ भी नहीं होता। द्विवेदीजी ने औपन्यासिक कथावस्तु को चरित्र से जोड़ने पर विशेष बल दिया और उसके लिए मनोविज्ञान का ज्ञान आवश्यक बतलाया। उन्होंने लिखा है कि उपन्यासों में मनुष्यों के ही चरित्रों और मनुष्यों के ही कार्यों तथा उनसे संबंध रखनेवाली घट-

नाओं का वर्णन रहता है। उनमें स्वाभाविकता लाने के लिए मनोविज्ञान का समावेश अप्रत्यक्ष रूप में होना चाहिए, तभी औपन्यासिक चरित्र-चित्रण सुंदर हो सकता है। द्विवेदीजी के शब्दों में, "शरीर के भीतर जैसे अस्थिपंजर छिपा रहकर शरीर संगठन में सहायता देता है वैसे ही मनोविज्ञान के नियमों को भी कथा-भाग के भीतर अलक्षित रखना चाहिए।" उपन्यास में कल्पना का बहुत महत्त्व है। द्विवेदीजी इस संबंध में कहते हैं कि उपन्यास लिखनेवाला कल्पना से भी काम ले सकता है, और बिना ऐसा किए उसका काम चल ही नहीं सकता। पर उसकी भित्ति सत्य के आधार पर होनी चाहिए। उसके घटनानिवेश और चरित्र-चित्रण में अतिमानुषिकता और अतिरंजना न होनी चाहिए। इस दोष से तभी बचाव हो सकता है जब लेखक को मनःशास्त्र के नियमों से अभिज्ञता हो। प्रेमचंद के पूर्व हिंदी में तिलिस्मी, जासूसी और सस्ते रोमांटिक उपन्यासों का जोर था। उस संदर्भ में द्विवेदीजी की इन बातों के महत्त्व को आसानी से समझा जा सकता है। वे जैसे कविता में साहित्य की प्रगतिशील परंपरा को आगे बढ़ाना चाहते थे वैसे ही कथा-साहित्य में भी।

मनोविज्ञान और चरित्र-चित्रण के संबंध पर द्विवेदीजी ने बहुत सूक्ष्मता से विचार किया है। यह सही है कि मनोविज्ञान के कुछ सामान्य नियम होते हैं, पर उन्हें यांत्रिक ढंग से चरित्रों पर लागू नहीं किया जा सकता। जो लेखक चरित्रों के वैशिष्ट्य को समझ कर चरित्र-चित्रण नहीं करता, वह प्रायः उनके ऊपर अपना मनोविज्ञान आरोपित करता है। द्विवेदीजी ने वैसे लेखक के बारे में लिखा है: "बस वह समझता है कि सारी दुनिया उसी में अंतर्भुक्त है; अवस्थाविशेष में जो वह करेगा या कहेगा वही सब लोग कहेंगे या करेंगे।" ऐसी स्थिति में उनका कहना है कि "दूसरे के मनोगत भावों की विवृति करते समय अपने ही मन को उसके मन के स्थान पर न बिठा देना चाहिए।" द्विवेदी जी वस्तुतः मनोविज्ञान और भौतिक परिस्थिति इन दोनों को परस्पर संबद्ध मानते हैं और किसी भी चरित्र का चित्रण उसके परिवेश और व्यवहार से उसे अलग करके करने के पक्ष में नहीं हैं। इतना ही नहीं, वे मानवीय व्यवहारों के चित्रण को ही किसी चरित्र के मनोविज्ञान का परिचय देने के लिए आवश्यक मानते हैं। उन्होंने लिखा है: "दुनिया में दूसरे के मन के भाव जानने का और कोई उपाय ही नहीं। परिस्थिति और बहिर्दर्शन ही के द्वारा, अनुभव की सहायता से, दूसरे के मन का भाव जाना जा सकता है।" शुक्लजी ने आगे चलकर यह भौतिकवादी मान्यता प्रस्तुत की: "सुंदर, मधुर, भीषण या क्रूर लगनेवाले रूप या व्यापारों से भिन्न सौंदर्य, माधुर्य, भीषणता या क्रूरता कोई पदार्थ नहीं।" तात्पर्य यह है कि भौतिक रूपों से स्वतंत्र भावना का अस्तित्व संभव नहीं है। द्विवेदीजी भी भावना को परिस्थिति और व्यवहार से संबद्ध मानते हैं। यह हमें उनके चिंतन में निहित भौतिकवादी प्रवृत्ति

की सूचना देता है।

उपन्यास सामंतवाद-विरोधी एक प्रगतिशील साहित्यिक विधा थी, इसलिए उसमें समाज की विकासोन्मुख प्रवृत्तियों का चित्रण आवश्यक था। द्विवेदीजी ने इसे उपन्यास की सफलता का कारण बतलाते हुए कहा कि जिनको मनुष्य-स्वभाव का ज्ञान है, जो अपने विचार मोहक भाषा द्वारा प्रकट कर सकते हैं, जो यह जानते हैं कि समाज का रुख किस तरफ है और किस प्रकार की रचना से उसे लाभ और किस प्रकार की रचना से हानि पहुंच सकती है, वे पश्चिमी पंडितों के तत्त्व-निरूपण का ज्ञान प्राप्त किए बिना भी अच्छे उपन्यास लिख सकते हैं। उपन्यासों में काफी दिनों तक प्रकृतवादी पद्धति से यथार्थ चित्रण करने की प्रवृत्ति थी। द्विवेदीजी ने इसका विरोध कर आलोचनात्मक यथार्थवाद को अपनाने की सलाह दी: "कुछ लोगों का खयाल है कि सच्चा सामाजिक चित्र दिखाने में उपन्यासकार को संकोच न करना चाहिए। इस पर प्रार्थना है कि उपन्यास कोई इतिहास तो है नहीं और न वह कोई वैज्ञानिक रचना ही है जो उसके सभी अंशों या अंगों पर विचार करने की ज़रूरत हो। फिर उसमें चोरों, डाकुओं, व्यभिचारियों, दुराचारियों आदि के चित्र दिखाने की क्या ज़रूरत? प्रसंग आ ही जाय तो इस तरह के चित्रों की विवृति ऐसे शब्दों से करनी चाहिए जिससे उनका असर पढ़नेवालों पर बुरा न पड़े।" स्पष्टतः यह प्रकृतिवादी दृष्टिकोण की जगह आलोचनात्मक यथार्थवादी दृष्टिकोण की स्थापना का प्रयत्न है, जिसका रचनात्मक प्रतिफलन हमें हिंदी में प्रेमचंद के उपन्यासों में देखने को मिलता है।

कहा जा चुका है कि द्विवेदीजी, पश्चिमी देशों में ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में जो प्रगति हुई थी, उससे इस देश को परिचित कराना चाहते थे। आधुनिक आलोचना हिंदी में अंग्रेज़ी से आई। अपने लेख-संग्रह 'आलोचनांजलि' में एक स्थल पर उन्होंने इस बात को खुले दिल से स्वीकार किया है: "समालोचना करने की नयी प्रणाली अंग्रेज़ी शिक्षा की बदौलत हम लोगों ने सीखी है।" अंग्रेज़ी में पुस्तक-समीक्षाएं ही नहीं निकलती थीं, अलग-अलग साहित्यकारों और उनकी रचनाओं पर पुस्तकाकार आलोचनाएं भी निकलती थीं। अंग्रेजी के प्रभाव से बंगला में भी यह बात देखने में आती थी। द्विवेदीजी चाहते थे कि बंगला की 'शकुंतला-रहस्य' और 'शकुंतला-तत्त्व'-जैसी आलोचनात्मक पुस्तकें हिंदी में भी लिखी जाएं।

द्विवेदीजी के सामने यह बात स्पष्ट थी कि आलोचना साधारण पाठकों के लिए होनी चाहिए। साथ ही उनकी मान्यता यह भी थी कि आलोचना का काम रचना के केवल गुण ही नहीं, बल्कि उसके दोष दिखलाना भी है। बंगला की उपर्युक्त दोनों पुस्तकों में गुण के साथ-साथ दोष-विवेचन भी किया गया था। द्विवेदीजी ने जब प्राचीन कवियों के दोष दिखलाए, तब हिंदी में चारों ओर से उसका विरोध किया गया। बाद में उन्होंने 'प्राचीन कवियों के काव्यों में दोषोद्-

भावना' शीर्षक से बयालीस पृष्ठों का एक लंबा निबंध लिखा, जिसमें उन्होंने बंगला, मराठी, संस्कृत, अंग्रेज़ी और जर्मन भाषा के आलोचकों और आचार्यों के उदाहरण देकर यह बतलाया कि प्राचीन कवियों के दोष दिखलाना उनके प्रति अनादर दिखलाना नहीं, बल्कि निष्पक्ष आलोचक के रूप में अपने धर्म का पालन करना है। लेकिन आलोचना गुण-दोष निरूपण तक ही सीमित नहीं रहती है। वह उससे आगे जाकर कृति पर उसकी संपूर्णता में विचार करती है और उसके संबंध में किन्हीं प्रतिमानों के आधार पर निर्णय देती है। भारतेंदु-युगीन आलोचना में आलोचना के जो ऐसे तत्त्व थे, द्विवेदीजी ने अपने आलोचना सिद्धांतों के द्वारा उन्हें विकसित करने का प्रयास किया। बंगला मासिक 'प्रवासी' में प्रकाशित दो-तीन टिप्पणियों को आधार बना कर उन्होंने 'संपादकों, समालोचकों और लेखकों का कर्त्तव्य' शीर्षक एक लेख लिखा और उसके माध्यम से यह बतलाया कि आलोचना का असली काम कृति पर उसकी समग्रता में विचार करना है, उसमें छंद, अलंकार, व्याकरण आदि के दोष दिखलाना नहीं।

द्विवेदीजी ने हिंदी के किसी साहित्यकार अथवा उसकी कृति पर कोई पुस्तकाकार आलोचना नहीं लिखी। व्यावहारिक आलोचना के क्षेत्र में उनके दो लेख उल्लेखनीय हैं। पहला लेख मिश्रबंधुओं के 'हिंदी-नवरत्न' की विस्तृत समीक्षा है और दूसरा लेख छायावादी कवियों की 'आजकल के हिंदी कवि और कविता' शीर्षक से लिखी गई आलोचना।

'हिंदी-नवरत्न' के लेखकों ने हिंदी के नौ कवियों को चुनकर उन्हें तीन श्रेणियों में रखा था। पहली श्रेणी में उन्होंने तुलसीदास और सूरदास के साथ देव को भी रख दिया था और तीसरी श्रेणी में मतिराम के साथ चंद और भारतेंदु को भी। दूसरी श्रेणी में बिहारी, भूषण और केशवदास रखे गए थे। द्विवेदीजी ने कवियों के इस श्रेणी-विभाग की आलोचना की, क्योंकि इसके पीछे कोई युक्ति नहीं, बल्कि केवल व्यक्तिगत रुचि थी। उन्होंने कहा कि "यह कवि साधारण श्रेणी का है, वह नीच श्रेणी का; इसकी कविता उससे उत्तम है, उसकी उससे; यह अमुक की श्रेणी का है, वह अमुक की। यह तो लेखकों का कथन-मात्र हुआ; यह कोई लक्षण नहीं। वे अपनी रुचि के अनुसार जिसको जैसा चाहें समझ सकते हैं। यदि किसी को रामायण से आल्हा अच्छा जंचे तो वह उसे ही रत्न समझ सकता है। पर यदि वह यह चाहता हो कि और लोग भी उससे इस विषय में सहमत हों तो उसे अपने मत की पुष्टि में कुछ कहना भी चाहिए।" इस तरह उन्होंने आलोचना में व्यक्तिगत रुचि पर आधारित निर्णय को रद्द करके विश्लेषण और तर्क पद्धति का महत्त्व बतलाया।

व्यक्तिगत रुचि के परिणामस्वरूप ही मिश्रबंधुओं ने देव-जैसे रीतिकालीन कवि को तुलसीदास और सूरदास के समकक्ष बतलाया था। द्विवेदीजी सामंती

कविता के विरोधी और जनवादी कविता के समर्थक थे, अतः उन्होंने इस पर आपत्ति करते हुए लिखा : "जिसने उच्च भावों का उद्बोधन नहीं किया; जिसने समाज, देश या धर्म्म को अपनी कविता द्वारा विशेष लाभ नहीं पहुंचाया; जिसने मानव चरित्र को उन्नत करने योग्य सामग्री से अपने काव्य को अलंकृत नहीं किया —वह भी यदि महाकवि या कविरत्न माना जा सकेगा तो प्रत्येक देश क्या, प्रत्येक प्रांत में भी सैकड़ों महाकवि और नवरत्न निकल आवेंगे।"

मिश्रबंधुओं के पास साहित्य के संबंध में कोई व्यापक सामाजिक दृष्टिकोण नहीं था जिससे वे हिंदी के कवियों का आपसी फर्क न समझ सके। उन्होंने मतिराम को भी कविरत्न माना था। द्विवेदीजी ने इस पर भी आपत्ति की : हिंदी में यदि कोई कविरत्न कहे जाने योग्य कवि या महाकवि हुए हैं तो वे सूर और तुलसी ही हैं। रस, भाव, अलंकार, छंदःशास्त्र और नायिका-भेद के परिज्ञान से मनुष्य जाति का बहुत ही कम उपकार हो सकता है। इन विषयों पर दो-एक छोटी-मोटी पुस्तकें लिखनेवाले मतिराम जैसे कवि भी यदि रत्नश्रेणी में परिगणित हो सकेंगे तो यही कहना पड़ेगा कि 'रत्न' शब्द अपने आप में ठीक नहीं व्यवहृत्त हुआ।" इसी तरह बिहारी को महाकवि मानना भी उन्हें स्वीकार न था: "स्त्री को सबसे अधिक चित्ता-कर्षक समझना, साठ वर्ष की उम्र तक उसी की 'रसरीति' में निमग्न रहना और उसी के हाव-भाव आदि का नाना भाव-भंगियों से वर्णन करना भी यदि महाकवि के लक्षणांतर्गत हो बिहारी अवश्य ही महाकवि थे।" चूंकि मिश्रबंधुओं के पास साहित्य के संबंध में कोई व्यापक दृष्टिकोण नहीं था इसलिए उन्होंने 'हिंदी-नवरत्न' में अनेक परस्पर विरोधी बातें कहीं। द्विवेदीजी ने इसके लिए उनकी कटु आलोचना की और इस प्रकार आलोचकों से साहित्य की परीक्षा के लिए एक सुसंगत दृष्टिकोण की मांग की।

'आजकल के हिंदी कवि और कविता' शीर्षक लेख में द्विवेदीजी ने छायावादी कवियों की आलोचना की थी। हिंदी में इस लेख को सामने रखकर आलोचकों ने उन्हें बहुत भला-बुरा कहा है और यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि अपनी दृष्टि के पुरानेपन के कारण वे नयी छायावादी कविता को नहीं समझ सके थे। वास्तविकता यह है कि उक्त लेख में द्विवेदीजी ने छायावाद को संपूर्ण रूप में रद्द नहीं किया था, बल्कि उसकी दो बड़ी त्रुटियों के लिए उसका विरोध किया था। उक्त त्रुटियों में से एक थी उसकी रहस्यात्मकता और दूसरी थी उसकी अतिशय लाक्षणिकता। ये दोनों ही चीजें छायावादी कविता को दुरूह बना देती थीं। द्विवेदीजी को यह बात बर्दाश्त नहीं थी कि कवि पाठकों की पूरी तरह से उपेक्षा करके केवल अपनी 'मनस्तुष्टि' के लिए कविता लिखें। आगे चलकर शुक्लजी ने उन्हीं बातों को लेकर विस्तार से छायावाद की आलोचना की, जिनकी ओर द्विवेदीजी ने संकेत किया था। हिंदी में शुक्लजी की इस आलोचना को भी पसंद

नहीं किया गया, लेकिन अब यह बात महसूस की जा रही है कि उनकी आलोचना वास्तविकता पर आधारित थी, कल्पना पर नहीं ।

भारतेंदुयुगीन हिंदी आलोचना जैसे द्विवेदीजी में विकसित हुई है, वैसे ही द्विवेदीजी की आलोचना शुक्लजी में। द्विवेदीजी की आलोचना शुक्लजी की आलोचना की पीठिका तैयार करती है। उसका उससे अधिक महत्त्व इसी बात में है ।



संदर्भ-ग्रंथ-सूची

द्विवेदी-साहित्य

१. द्विवेदी-काव्यमाला
२. नैषधचरितचर्चा
३. विक्रमांकदेवचरितचर्चा
४. हिंदी कालिदास की समालोचना
५. कालिदास की निरंकुशता
६. कालिदास और उनकी कविता
७. नाट्यशास्त्र
८. रसज्ञ रंजन
९. साहित्य-संदर्भ
१०. साहित्यालाप
११. आलोचनांजलि
१२. समालोचना-समुच्चय
१३. लेखांजलि
१४. साहित्य-सीकर
१५. संकलन
१६. विचार-विमर्श
१७. वनिता-विलास
१८. सुकवि-संकीर्तन
१९. कोविद-कीर्तन
२०. चरित-चर्य्या
२१. चरित्र-चित्रण
२२. संपत्तिशास्त्र

द्विवेदीजी पर संस्मरणात्मक और आलोचनात्मक साहित्य

१. द्विवेदी-मीमांसा —प्रेमनारायण टंडन
२. महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग—डॉ० उदयभानु सिंह
३. महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण—डॉ० रामविलास शर्मा
४. द्विवेदी अभिनंदन ग्रंथ—सं० डॉ० श्यामसुंदरदास और रायकृष्णदास
५. सरस्वती (द्विवेदी-स्मृति-अंक)।



साहित्य अकादेमी भारतीय साहित्य के विकास के लिए कार्य करने वाली राष्ट्रीय महत्त्व की स्वायत्त संस्था है जिसकी स्थापना भारत सरकार ने १९५४ में की थी। इसकी नीतियाँ एक ८२-सदस्यीय परिषद् द्वारा निर्धारित की जाती हैं जिसमें विभिन्न भारतीय भाषाओं, राज्यों और विश्वविद्यालयों के प्रतिनिधि होते हैं।

साहित्य अकादेमी का प्रमुख उद्देश्य है ऊँचे साहित्यिक प्रतिमान कायम करना, विभिन्न भारतीय भाषाओं में होने वाले साहित्यिक कार्यों को अग्रसर करना और उनका समन्वय करना तथा उनके माध्यम से देश की सांस्कृतिक एकता का उन्नयन करना।

यद्यपि भारतीय साहित्य एक है, फिर भी एक भाषा के लेखक और पाठक अपने ही देश की अन्य पड़ोसी भाषाओं की गतिविधियों से प्रायः अनभिज्ञ ही जान पड़ते हैं। भारतीय पाठक भाषा और लिपि की दीवारों को लाँघकर एक-दूसरे से अधिकाधिक परिचित होकर देश की साहित्यिक विरासत की अपार विविधता और अनेकरूपता का और अधिक रसास्वादन कर सकें, इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए साहित्य अकादेमी ने एक विस्तृत अनुवाद-प्रकाशन योजना हाथ में ली है। इस योजना के अन्तर्गत अब तक जो ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं, उनकी बृहद् सूची साहित्य अकादेमी के विक्रय विभाग से निःशुल्क प्राप्त की जा सकती है।

इस माला में अब तक प्रकाशित हिन्दी पुस्तिकाएँ

लक्ष्मीनाथ बेज़बरुआ : हेम बरुआ / बंकिमचन्द्र चटर्जी : सुबोधचन्द्र सेनगुप्त / बुद्धदेव बसु : अलोकरंजन दासगुप्त / चण्डीदास : सुकुमार सेन/ईश्वरचन्द्र विद्यासागर : हिरण्मय बनर्जी / जीवनानन्द दास : चिदानन्द दासगुप्त / काज़ी नज़रुल इस्लाम : गोपाल हाल्दार/महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर : नारायण चौधुरी / माणिक बन्द्योपाध्याय : सरोजमोहन मित्र / प्रमथ चौधुरी : अरुणकुमार मुखोपाध्याय / राजा राममोहनराय : सौम्येन्द्रनाथ टैगोर / ताराशंकर बन्द्योपाध्याय : महाश्वेता देवी / सरोजिनी नायडू : पद्मिनी सेनगुप्त / तरु दत्त : पद्मिनी सेनगुप्त / गोवर्धनराम : रमणलाल जोशी / मेघाणी : वसन्तराव जटाशंकर त्रिवेदी / नानालाल : उमेदभाई मणियार / नर्मदाशंकर : गुलाबदास ब्रोकर / भारतेन्दु हरिश्चन्द्र : मदन गोपाल / देवकीनन्दन खत्री : मधुरेश / जयशंकर प्रसाद : रमेशचन्द्र शाह / जायसी : परमानन्द श्रीवास्तव / प्रेमचन्द : प्रकाशचन्द्र गुप्त / राहुल सांकृत्यायन : प्रभाकर माचवे / रैदास : धर्मपाल मैनी / श्यामसुन्दरदास : सुधाकर पाण्डेय / सुभद्रा कुमारी चौहान : सुधा चौहान / बी० एम० श्रीकंठय्य : ए० एन० मूर्तिराव/विद्यापति : रमानाथ झा / ए० आर० राज राज वर्मा : के० एम० जॉर्ज / कुमारन आशान् : के० एम० जॉर्ज / महाकवि उल्लूर : सुकुमार अषिकोड / ज्ञानदेव : पुरुषोत्तम यशवन्त देशपाण्डे/हरि नारायण आपटे : रामचंद्र भिकाजी जोशी/केशवसुत : प्रभाकर माचवे/नामदेव : माधव गोपाल देशमुख / नरसिंह चिन्तामण केलकर : रामचन्द्र माधव गोले / श्रीपाद कृष्ण कोल्हटकर : मनोहर लक्ष्मण वराडपांडे / फ़कीरमोहन सेनापति : मायाधर मानसिंह / राधानाथ राय : गोपीनाथ महन्ती / सरलादास : कृष्णचन्द्र पाणिग्राही / सूर्यमल्ल मिश्रण : विष्णुदत्त शर्मा / बाणभट्ट : के० कृष्णमूर्ति / भवभूति : गो० के० भट/कल्हण : सोमनाथ दर / सचल सरमस्त : कल्याण बू० आडवाणी / शाह लतीफ़ : कल्याण बू० आडवाणी/भारती : प्रेमा नन्दकुमार / इलंगो अडिगल : मु० वरदराजन/कम्बन : एस० महाराजन/ पोतन्ना : दिवाकर्ल वेंकटावधानी / वेदम वेंकटराय शास्त्री : वेदम वेंकटराय शास्त्री (कनिष्ठ) / वीरेशलिंगम : नार्ल वेंकटेश्वर राव / वेमना : नार्ल वेंकटेश्वर राव / ग़ालिब : मुहम्मद मुजीब ।